

द्वारेण
दीपा जले

गुरुदेव तुलसी



सूर्य प्रकाश का पुंज है। वह अन्धकार को दूर कर चमकता है। पर उसकी अपनी सीमाएं हैं। वह सीमित समय तक चमकता है। समय की सीमा पूर्ण होते ही वह अस्ताचल की ओट में चला जाता है और धरती पर पुनः अन्धकार का साम्राज्य छा जाता है। अस्ताचल की ओर जाते समय सूर्य एक प्रश्न चिह्न छोड़ता है और अपनी अनुपस्थिति में किसी सबल व्यक्ति को प्रकाश फैलाने का दायित्व देना चाहता है किन्तु चारों ओर एक सपाट मौन फैल जाता है। कोई भी इतना साहस नहीं जुटा पाता है। उस समय नन्हा-सा दीपक खड़ा होकर आत्मविश्वास के साथ कहता है— आप निश्चिन्त होकर जाइए। मैं रात भर जागृत रहूंगा। अपने सामर्थ्य के अनुसार अन्धकार से लड़ूंगा और संसार में प्रकाश के अस्तित्व को बचाकर रखूंगा।

इस आस्था को प्रज्वलित रखने वाला दीपक आज कहां है? मनुष्य सोचता है कि इस युग में नीति और चरित्र के बल पर जीवन जीना दुष्कर है। उसके विश्वास की जड़ें हिल गई हैं। ऐसे समय में अणुव्रत अनुशास्ता गुरुदेव श्री तुलसी ने विश्वास का दीया जलाने का वज्र संकल्प अभिव्यक्त किया।

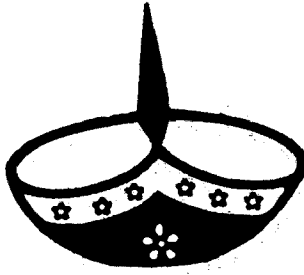
दीये से दीया जले—उनके संकल्पों के हिमालय से प्रवाहित ऐसी चिन्तन धारा है, जो युग की ऊष्मा से संतप्त मानव मन को शीतलता प्रदान कर सकती है।

दीये से दीया जले

आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राज.)

दीये से दीया जले

गुरुदेव तुलसी



© आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

संपादिका
महाश्रमणी, साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

पद्मश्री मीनाक्षी सरावगी कलकत्ता के सौजन्य से

Surya Kant Jain
Jain Sahitya Bhandar
4552, Deputy Ganj
Sadar Bazar, Delhi-6

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य : पैंतीस रुपये, चतुर्थ संस्करण, १९९८ मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

DEEYE SE DEEYA JALE By Gurudev Tulsi

Rs. 35.00

स्वकथ्य

मनुष्य के भीतर विश्वास की अकूत सम्पदा है, पर वह उसका उपयोग नहीं कर रहा है। उसके भीतर अपरिसीम आनन्द है, पर वह उसका अनुभव नहीं कर रहा है। उसके भीतर अन्तहीन शक्तियों का खजाना है, पर वह उसे खोज नहीं पाया है। उसके भीतर अपरिमित आलोक है, पर उसकी आंखें उसे देख नहीं पाई हैं। वह अंधेरे में खड़ा है। उसके चारों ओर सन्देह, भय, अभाव कष्ट और त्रासदी की कंटीली झाड़ियां बिछी हुई हैं। वह भ्रान्तियों के घेरे में खड़ा है, इसलिए अस्थिरता का जीवन जी रहा है। किसी व्यक्ति के प्रति क्या, विचार के प्रति भी उसका मन आश्वस्त नहीं है। इसी कारण वह अत्राण और अशरण बन रहा है।

अविश्वास के इस युग में भी मैंने अपने विश्वास को बद्धमूल रूप में सुरक्षित रखा है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि काल और क्षेत्र की सीमाएं तथा परिस्थितियों का दबाव अध्यात्म एवं मानवीय मूल्यों की मूल्यवत्ता को कम नहीं कर सकता। जब तक अध्यात्म और मानवीय मूल्य जीवित हैं तब तक ही जीवन है। इनके अभाव में जीने वाले मनुष्यता की लाश को ढो सकते हैं, उसे जी नहीं सकते।

इस संसार में जीवित व्यक्ति अधिक हैं या मृत? इस प्रश्न का सीधा उत्तर दिया जा सकता है, पर मैं देना नहीं चाहता। जीवित व्यक्ति वे हैं, जो आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को जीते हैं। जिनके जीवन में इन मूल्यों को स्थान नहीं है, वे जीते हुए भी मृत हैं। कवि ने लिखा है—

यस्य धर्मविहीनानि, दिनान्यायान्ति यान्ति च ।

स लोहकारभस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति ॥

जीवन के दिन अंजुरी में भरे जल या मुड़ी में भरी रेत की तरह फिसलते

रहते हैं। इन दिनों में धर्म की आराधना करने वाला अपने जीवन को सार्थक बना लेता है। जिस व्यक्ति के जीवन के पल धर्मशून्य होते हैं, वह लुहार की धौंकनी की तरह श्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं है।

विश्वास या आत्मविश्वास से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जिसका विश्वास चुक जाता है, उसका व्यक्तित्व धुंधला जाता है। यह किसी शास्त्र की नहीं, अनुभव की वाणी है। यह अनुभव जन-जन का अनुभव बने, ऐसा मुझे अभीष्ट है। इस दृष्टि से मैं अपने प्रवचनों, लेखों और संवादों में आत्म-विश्वास को सुरक्षित रखने पर बल देता रहा हूँ। विश्वास की ज्योति पर आई राख को हटाकर उसे पुनः प्रज्वलित करने में साहित्य की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकती है। आज रेडियो, टी. वी., वी. सी. आर आदि श्रव्य और दृश्य माध्यमों ने साहित्य के आकर्षण को कम किया है। फिर भी उसके दीर्घकालीन प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वर्तमान पत्र-पत्रिकाओं की भीड़ में नैतिक चेतना का संवाहक एक पाक्षिक पत्र है अणुव्रत। यह नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में सतत जागरूक है। इसके माध्यम से मैं अपने विचारों को हजारों पाठकों तक पहुंचा रहा हूँ। उन विचारों को संकलित कर साध्वी-प्रमुखा कनकप्रभा ने एक पुस्तक तैयार की—‘बैसाखियां विश्वास की।’ पाठकों ने उस पुस्तक को पढ़ा तो उन्हें अपने डोलते हुए विश्वास को स्थिर करने में एक सशक्त आलम्बन मिला।

विश्वास की बैसाखियों के सहारे चलने वाले व्यक्ति अपने पथ में अंधेरा देखकर एक बार सहम जाते हैं। ऐसे लोगों के लिए एक ऐसे दीये की अपेक्षा है, जो उनके पथ को आलोकित कर सके। एक दीया हजार दीये जला सकता है। इस प्रेरणा से अभिप्रेरित हो साध्वी-प्रमुखा ने मेरे विश्वास से निःसृत विचारों के उच्छ्वासों को संकलित कर ‘दीये से दीया जले’ पुस्तक सम्पादित कर दी। अध्यात्म और नैतिकता में रुचि रखने वाले पाठक इसे पढ़कर अपने खोए हुए विश्वास का दीया जलाएंगे और अपने जीवन का पथ आलोकित करेंगे, ऐसा विश्वास है।

जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१ ३०६

—गणाधिपति तुलसी

२१ जून १९९५

सम्पादकीय

अनुयोगद्वार सूत्र का अध्ययन करते समय एक वाक्य पर ध्यान केन्द्रित हुआ—दीवसमा आयरिया—आचार्य दीपक के समान होते हैं। मैंने सोचा—आचार्य का स्थान बहुत ऊंचा होता है। उनको सूर्य और चन्द्रमा की उपमा दी जा सकती है। समुद्र और धरती की उपमा दी जा सकती है। यह दीपक की क्या उपमा? दीपक तो कोई भी बन सकता है। फिर सोचा—आगम का एक भी अक्षर निरर्थक नहीं हो सकता। आगमकार विशिष्ट ज्ञानी थे। अंग-आगमों की रचना तीर्थकरों की देशना के आधार पर होती है। उनका वचन स्वतः प्रमाण होता है। उपांगों के रचनाकार स्थविर और आचार्य होते हैं। अनुयोगद्वार का स्थान मूल आगम में है। इसमें आचार्य आर्यरक्षित का कर्तृत्व है। वे पूर्वधर आचार्य थे। उन्होंने जो लिखा है, उसका निश्चित रूप से गंभीर अर्थ होना चाहिए। इस विचार यात्रा में मैंने पूरे सन्दर्भ को पढ़ा—

जह दीवा दीवसयं पदिप्पए, सो य दिप्पए दीवो ।

दीवसमा आयरिया, दीप्पति परं च दीवेत्ति॥

एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल उठते हैं। इतने दीपकों को प्रज्वलित करने पर भी उस दीपक का तेज मन्द नहीं होता। वह पूरी तरह से दीप्त रहता है। आचार्य दीपक के समान स्वयं दीप्तिमान रहते हैं और दूसरों को भी दीपित करते रहते हैं।

दीपक जलकर प्रकाश फैलाता है, यह काम सरल नहीं है। पर अपने तेज से दीपकों की एक लम्बी कतार को दीप्तिमान बना देना बहुत महत्त्वपूर्ण काम है। आचार्य के पास ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की जो विलक्षण दीप्ति होती है, उसे वे सैकड़ों की सीमा से पार लाखों-करोड़ों व्यक्तियों में संप्रेषित

कर देते हैं, इसलिए उनके लिए इस उपमा का वैशिष्ट्य है।

सूरज प्रकाश का पुञ्ज है। वह अन्धकार को दूर कर चमकता है। पर उसकी अपनी सीमाएं हैं। वह सीमित समय तक चमकता है। समय की सीमा पूर्ण होते ही वह अस्ताचल की ओट में चला जाता है और धरती पर पुनः अन्धकार का साम्राज्य छा जाता है। अस्ताचल की ओर जाते समय सूर्य एक प्रश्नचिह्न छोड़ता है और अपनी अनुपस्थिति में किसी सबल व्यक्ति को प्रकाश फैलाने का दायित्व देना चाहता है। किन्तु चारों ओर एक सपाट मौन फैल जाता है। कोई भी इतना साहस नहीं जुटा पाता। उस समय नन्हा-सा दीपक खड़ा होकर आत्मविश्वास के साथ कहता है— आप निश्चिन्त होकर जाइए। मैं रात भर जागृत रहूंगा। अपने सामर्थ्य के अनुसार अन्धकार से लड़ूंगा और संसार में प्रकाश के अस्तित्व को बचाकर रखूंगा।

समय बदला, लोगों की जीवन-शैली बदली, मकान बदले, उपकरण बदले और प्रकाश के साधन भी बदल गए। अब दीये का प्रकाश साहित्य की परिधि में सिमट कर रह गया। घर-घर में बल्बों और ट्यूबलाइटों की जगमगाहट आ गई है। दीये की मद्धिम रोशनी देखने के लिए आंखें तरस कर रह जाती हैं। दीपमालिका के अवसर पर कुछ घरों की मुंडेरों पर माटी के दीयों की कतारें अवश्य जगमगाती हैं, पर वे भी डेलाइट्स की चकाचौंध में फीकी होकर रह जाती हैं। अब न तो चांद-तारों में वह चमक दिखाई देती है और न दीयों में वह रोशनी। ऐसे समय में दीयों की बात करना भी पिछड़ेपन का प्रतीक माना जा सकता है। किन्तु जिस देश के ऋषि-मुनि भारतीय संस्कृति के मूल से जुड़े हुए हैं, वे अपने गौरवमय अतीत की विस्मृति नहीं कर सकते।

आज हम जिस युग में जी रहे हैं, माटी के दीये की वात ही क्या, मनुष्य के विश्वास का दीया भी बुझ रहा है। एक समय था, जब भारतीय चिन्तन-धारा का प्रवाह इस रूप में बहता था—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च।

अक्षीणो वित्ततः क्षीणः, वृत्ततस्तु हतो हतः॥

पुरुषार्थ का प्रयोग कर वृत्त—चरित्र की सुरक्षा करो। वित्त—धन आता-जाता रहता है। उसकी चिन्ता छोड़ो। धन से क्षीण व्यक्ति कभी क्षीण

नहीं होता। किन्तु जिसका चरित्रबल समाप्त हो जाता है, वह पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है।

इस आस्था को प्रज्वलित रखने वाला दीपक आज कहां है? मनुष्य सोचता है कि इस युग में नीति और चरित्र के बल पर जीवन जीना दुष्कर है। उसके विश्वास की जड़ें हिल गई हैं। ऐसे समय में अणुव्रत अनुशास्ता गुरुदेव श्री तुलसी ने विश्वास का दीया जलाने का वज्र संकल्प अभिव्यक्त किया।

दीये से दीया जले—उनके संकल्पों के हिमालय से प्रवाहित ऐसी चिन्तन-धारा है, जो युग की ऊष्मा से संतप्त मानव-मन को शीतलता प्रदान कर सकती है।

दीये से दीया जले—उनके आत्मविश्वास की दीप्ति से उछले हुए ऐसे स्फुलिंग हैं, जो अविश्वास के अंधेरे में भटके हुए लोगों को पथ दिखा सकते हैं।

दीये से दीया जले—उनके विचारों की वह सम्पदा है, जो वैचारिक दरिद्रता के युग में मनुष्य को नई सोच की धरती दे सकती है।

व्यक्ति-व्यक्ति के मन में विश्वास का दीया जलाने की अभिप्रेरणा से भरा हुआ यह उपक्रम प्रत्येक पाठक के मन को आलोकित करे और उन तक पहुंचा हुआ आलोक आगे-से-आगे फैलता रहे, यही इस कृति के सृजन व सम्पादन की सार्थकता है।

ऋषभ-द्वार

—साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

लाडनूँ-३४१ ३०६

२१ जून १९९५

चतुर्थ संस्करण

साहित्य की लोकप्रियता के दो मानक हैं—पाठक की रुचि और समीक्षक की समालोचना। कुछ समय पूर्व अणुव्रत-अनुशास्ता गुरुदेव श्री तुलसी की पुस्तक—दीये से दीया जले—मुद्रित होकर आई और हाथोंहाथ चली गई। चार महीने में उसके तीन संस्करण समाप्त हो गए। पाठकों की मांग आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इससे लगता है कि पुस्तक में कुछ ऐसी सामग्री है, जो मन को प्रभावित करने वाली है। तीर्थंकर के प्रबुद्ध और अनुभवी संपादक डॉ० नेमीचन्द जैन ने प्रस्तुत पुस्तक की समीक्षा में लिखा है—‘आचार्य तुलसीजी की यह बहुमूल्य कृति उनके परिपक्व दिशाबोधक चिन्तन की सुमेरु कृति है। स्वकथ्य में तथा अन्यत्र उपलब्ध उनके ये वाक्य किसी भी व्यक्ति अथवा समूह के लिए कभी भी, कहीं भी प्रेरणादायी सिद्ध हो सकते हैं।’ डॉ० मूलचन्दजी सेठिया ने भी इस पर विस्तृत समीक्षा लिखी।

अणुव्रत गुरुदेव का एक सार्वभौम कार्यक्रम है। मुख्य रूप से उसी सन्दर्भ में समसामयिक विषयों पर लिखे गए ये लघु निबन्ध पढ़ने में सुरुचिपूर्ण और नई दृष्टि देने वाले हैं। पाठकों की पसन्द इस सचाई को उजागर कर रही है।

ऋषभ-द्वार

लाडनूँ-३४१३०६

७ नवंबर १९९५

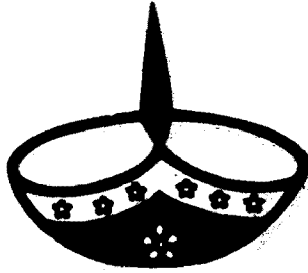
साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

अनुक्रम

१. संकल्प विश्वास की सुरक्षा का	१
२. स्वस्थ समाज का स्वरूप	४
३. सत्पुरुष बनाने का उपक्रम	६
४. प्रासंगिकता संयम की	८
५. शान्ति का उत्स है संयम	१०
६. लोकतन्त्र का मन्दिर	१२
७. नशे की संस्कृति	१४
८. भ्रूण हत्या : एक प्रश्नचिह्न	१६
९. प्राकृतिक आपदाओं का एक कारण	१९
१०. विज्ञापन संस्कृति	२१
११. पानी में मीन पियासी	२३
१२. वर्तमान को देखो	२५
१३. अनुकरण की प्रवृत्ति: विवेक की आंख	२७
१४. तलाश आदमी की	२९
१५. क्या खोया? क्या पाया?	३१
१६. धर्म और सम्प्रदाय	३४
१७. बीमारी अनास्था की	३७
१८. स्वस्थ कौन?	३९
१९. राष्ट्रीय चरित्र और शिक्षा	४१

२०. आशा का दीप : आस्था का उजास	४३
२१. मानव जाति का आधार	४५
२२. सूरज पर धूल फेंकने से क्या?	४७
२३. आस्था और विश्वास के प्रतीक	४९
२४. आईने की टूट और घर की फूट	५१
२५. व्यक्ति और विश्व	५३
२६. अणुव्रत परिवार योजना	५५
२७. काश ! दीवारें ढहें	५८
२८. भाईचारे की मिशाल	६०
२९. तीन चीजें बाजार में नहीं मिलतीं	६३
३०. चयन एक सहायक का	६५
३१. समस्या संग्रह और असीम भोग की	६७
३२. लहर बदलने वाला झोंका	६९
३३. विध्वंस के चौराहे पर	७१
३४. जरूरत है सही दृष्टिकोण की	७३
३५. स्वस्थ जीवन का आश्वासन	७५
३६. जीवन को संवारने वाले	७७
३७. सन्देह का कुहासा : विश्वास का सूरज	७९
३८. मूल्य अर्हताओं का	८१
३९. आस्था और जागरूकता का कवच	८३
४०. आस्था के दो आयाम	८५
४१. समस्या विचारशून्यता की	८७
४२. आज की खाद से कल का निर्माण	८९
४३. पुरुषार्थ निर्माता है भाग्य का	९१
४४. संघर्ष की दिशाएं	९३

४५. शिक्षा और संस्कार	९५
४६. जीवन का बुनियादी काम	९७
४७. साफ आईना : साफ प्रतिबिम्ब	१००
४८. संन्यास परम्परा और ज्ञान की धारा	१०२
४९. सापेक्षता है संजीवनी	१०५
५०. संस्कृति तब और अब की	१०७
५१. मन्दिर की सुरक्षा : आदर्शों का बिखराव	१०९
५२. खिलवाड़ मानवता के साथ	११२
५३. ध्वंस की राजनीति	११५
५४. मैत्री के साधक तत्त्व	११८
५५. दही का मटका और मेंढक	१२०
५६. परिणाम से पहले प्रवृत्ति को देखें	१२२
५७. नारी के तीन रूप	१२४
५८. किट्टी पार्टी और महिला समाज	१२७
५९. प्रशिक्षण अहिंसा का	१२९
६०. मनोवृत्ति के परिमार्जन की त्रिपदी	१३१
६१. त्रैकालिक समाधान	१३४
६२. आवश्यक है दो भाइयों का मिलन	१३६
६३. मौत के साये में	१३८
६४. विकास का अन्तिम शिखर	१४०
६५. अणुव्रत का रचनात्मक रूप	१४२
६६. जिज्ञासा : समाधान	१४४



दीये से दीया जले

गुरुदेव तुलसी

१. संकल्प विश्वास की सुरक्षा का

अणुव्रत पाशिक का एक स्तम्भ है— 'मेरा विश्वास है'। सन् १९८४ से इस स्तम्भ के अन्तर्गत मैं अपने विचार दे रहा हूँ। राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक, शैक्षणिक आदि विभिन्न सन्दर्भों में मैंने सकारात्मक दृष्टि से सोचा और ऐसा विश्वास व्यक्त किया, जो लोकजीवन को विश्वास के धागों में आबद्ध कर सके। किन्तु एक दशक की विचारयात्रा का विश्लेषण करता हूँ तो पाता हूँ कि विश्वास का धरातल ठोस नहीं है। ऊपर-ऊपर से हर व्यक्ति दूसरों को अपने विश्वास में लेना चाहता है। पर भीतर-ही-भीतर सन्देह की नागफनी सिर उठाए खड़ी रहती है। जब व्यक्ति स्वयं किसी का विश्वास नहीं करता तो दूसरे उसका विश्वास कैसे कर पाएंगे। अविश्वास की पटरी पर जीवन की गाड़ी चल रही है। कहा नहीं जा सकता, कब कहां दुर्घटना घटित हो जाए।

डॉक्टर रोगी की चिकित्सा करता है। पर रोगी को यह विश्वास नहीं होता कि उसकी चिकित्सा सही हो रही है। क्योंकि वह जानता है कि उसके डॉक्टर का कई लोगों के साथ अनुबंध है। दवा निर्माता और दवा-विक्रेता के साथ उसका अनुबंध है। एक्सरे मशीन वाले के साथ अनुबंध है। ब्लड, यूरिन आदि टेस्ट करने वाले के साथ अनुबंध है, और भी कई लोगों के साथ अनुबंध है। उसके हाथ से लिखी पर्ची देखकर सम्बन्धित व्यक्ति डॉक्टर के खाते में एक निश्चित राशि जमा कर देता है। जहां आर्थिक बुनियाद पर चिकित्सा होती है, वहां रोगी डॉक्टर के प्रति विश्वस्त कैसे रह सकता है ?

नेता चुनाव में प्रत्याशी बनते हैं, उस समय जनता से सीधा सम्पर्क करते हैं। उसके सुख-दुःख को सुनते हैं। उसे दुःख-दुविधा दूर करने का आश्वासन देते हैं। चुनाव घोषणापत्रों में बड़े-बड़े वादे करते हैं। किन्तु चुनाव

संकल्प विश्वास की सुरक्षा का : १

जीतने के बाद, वोटों के गलियारे से सत्ता के सिंहासन तक पहुंचने के बाद क्या सम्पर्क सूत्र बने रहते हैं? क्या दिए हुए आश्वासनों के आधार पर लक्ष्य की दिशा में गति होती है? क्या वादे पूरे किए जाते हैं? यदि ऐसा कुछ भी नहीं होता तो वह विश्वास जीवित कैसे रहेगा, जिसके बल पर जनता अपने मत देती है?

छोटा राज्यकर्मचारी हो या बड़ा अफसर, निःस्वार्थ भाव से दायित्व-निर्वाह की मानसिकता पंगु बनती जा रही है। पत्र-पुष्प या चाय-पानी की व्यवस्था हुए बिना किसी भी वर्ग में काम नहीं होता। ऊपर से नीचे तक एक ही क्रम चलता हो तो कौन किसे कहे? जितना बड़ा काम, उतनी बड़ी रकम। उसमें सबकी भागीदारी तयशुदा रहती है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति ईमानदारी की बात करता है तो उसे स्थानान्तरण की समस्या से जूझना पड़ता है। विश्वास और कर्तव्यनिष्ठा के सिद्धान्तों की जैसी नृशंस हत्या हो रही है, क्या उन्हें किसी का संरक्षण मिल सकेगा?

स्वार्थ-सिद्धि का यह नाटक बड़े लोग ही खेल रहे हैं, यह बात नहीं है। एक वास्तुशिल्पी हो या बढ़ईगिरी करने वाला, उसके भी दुकानदारों के साथ अनुबंध रहते हैं। बढ़िया मारबल, बढ़िया काठ या अन्य किसी भी माल के विक्रय प्रसंग में सम्बन्धित व्यक्ति विक्रेता के साथ जाकर आमने-सामने हो जाता है। दुकानदार उसकी दलाली का पैसा उसके खाते में जमा कर देता है। यह किसी व्यक्ति विशेष या वर्गविशेष की बात नहीं है। आम आदमी ऐसा करता है और आम आदमी को उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। चीनी-घोटाले, प्रतिभूति-घोटाले जैसे घोटालों पर संसद में अच्छा-खासा हंगामा देखा जा सकता है, पर इनके मूल में खड़े अविश्वास की कहीं कोई चिकित्सा नहीं होती। आज, जबकि जन-जन का विश्वास चुक रहा है और विश्वास शब्द की विश्वसनीयता क्षीण हो रही है, ऐसी स्थिति में विश्वास शब्द का उपयोग करना चाहिए या नहीं? इस प्रश्न का सीधा-सा समाधान यही है कि जो व्यक्ति विश्वास खो चुके हैं, वे इसका उपयोग भले ही न करें। किन्तु जिनका विश्वास जीवंत है, उनका दायित्व है कि वे टूटते हुए विश्वास को सहारा दें।

सन् १९९४ का पूरा वर्ष सत्तादल और प्रतिपक्षी दलों के बीच अविश्वास

२ : दीये से दीया जले

की खाई को गहराने वाला सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार छोटे स्तरों पर भी विश्वास की दीवारें हिली हैं। सन् १९९५ के प्रवेशद्वार पर अविश्वास ही दस्तक देता रहेगा तो आने वाला एक वर्ष फिर इसी के नाम लिखा जाएगा। यदि इस स्थिति को बदलना है तो सब लोग एक दूसरे का विश्वास करने और उस विश्वास की सुरक्षा करने का संकल्प स्वीकार करें। यदि ऐसा हुआ तो मनुष्य की जीवनशैली और काम करने की शैली में दीखता अन्तर आएगा, ऐसा विश्वास है।

संकल्प विश्वास की सुरक्षा का : ३

२. स्वस्थ समाज का स्वरूप

समाज के दो रूप हैं—रुग्ण समाज और स्वस्थ समाज। रुग्णता किसी को काम्य नहीं है। हर व्यक्ति स्वास्थ्य चाहता है। स्वास्थ्य पाने के लिए वह स्वस्थ समाज की खोज करता है। पर उसके सामने कठिनाई एक ही है कि वह स्वस्थता और रुग्णता के मानदण्डों में उलझ जाता है। जिस समाज में कोई गरीब न हो, कोई बेरोजगार न हो, कोई सुख-सुविधा के साधनों से वंचित न हो और प्राकृतिक आपदाओं से प्रताड़ित न हो, वह समाज स्वस्थ है। यह एक मानदण्ड है। दूसरा मानदण्ड शैक्षणिक विकास की परिक्रमा करता है। जिस समाज में अधिक-से-अधिक शिक्षा संस्थान हों, गांवों और ढाणियों में भी पढ़ने की सुविधा हो और जहां कोई निरक्षर न हो, वह समाज स्वस्थ है। कुछ लोगों की दृष्टि में स्वस्थता या उच्चता का मानक है विलासिता की साधन सामग्री। जिस समाज में हर व्यक्ति के पास अपनी कार हो, फ्रिज हो, कूलर हो, टी. वी. हो, कम्प्यूटर हो, कलक्युलेटर हो तथा इसी प्रकार की नई-नई आविष्कृत होने वाली सब वस्तुएं हों, वह समाज स्वस्थ होता है।

हर व्यक्ति का अपना चिन्तन और अपना दृष्टिकोण है। दूसरों का चिन्तन गलत है और मेरा चिन्तन सही है, ऐसा आग्रह मैं क्यों करूं? मुझे भगवान महावीर का अनेकान्त दर्शन प्राप्त है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के चिन्तन में सत्य का अंश हो सकता है। समस्या वहां पैदा होती है, जहां सत्य के एक अंश को संपूर्ण सत्य मान लिया जाता है। समस्या का दूसरा रूप है अपने चिन्तन को सत्य मानकर दूसरों के चिन्तन को असत्य प्रमाणित करने का प्रयास करना। मैं अपने चिन्तन को न तो संपूर्ण सत्य मानता हूं और न दूसरों के चिन्तन को नितान्त असत्य स्वीकार करता हूं। मेरे अभिमत से स्वस्थ समाज का स्वरूप यह हो सकता है—

४ : दीये से दीया जले

- जिस समाज में कोई किसी निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करता ।
- जिस समाज में कोई किसी पर आक्रमण की पहल नहीं करता ।
- जिस समाज में कोई हिंसात्मक तोड़फोड़ नहीं करता ।
- जिस समाज में कोई किसी को अछूत नहीं मानता ।
- जिस समाज में साम्प्रदायिक उन्माद नहीं होता ।
- जिस समाज में व्यावसायिक अनैतिकता नहीं होती और उसे प्रतिष्ठा भी नहीं मिलती ।
- जिस समाज में लोकतंत्र की धज्जियां नहीं उड़तीं, चुनाव के प्रसंग में अनैतिक आचरण नहीं होता ।
- जिस समाज पर सामाजिक कुरूढ़ियों का शिकंजा कसा हुआ नहीं रहता ।
- जिस समाज में मादक व नशीले पदार्थों का उपयोग नहीं होता ।
- जिस समाज में संग्रह और भोग को अनियंत्रित नहीं रखा जाता ।
- जिस समाज में पर्यावरण की उपेक्षा नहीं होती ।

इस प्रकार की और भी कुछ बातें हो सकती हैं। ये ऐसी बातें हैं जो किसी एक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए ही उपयोगी नहीं हैं। इनके द्वारा पूरे विश्व की चेतना को प्रभावित या जागृत किया जा सकता है। विस्तार को समेटा जाये तो इसे एक शब्द में प्रस्तुति दी जा सकती है। वह शब्द है—अणुव्रत। अणुव्रत स्वस्थ-समाज संरचना की बुनियाद है। जो लोग अपने समाज को स्वस्थ बनाना चाहते हैं, वे व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को अणुव्रत आचार-संहिता के सांचे में ढालने का प्रयत्न करें। यह एक सामूहिक अनुष्ठान है। इसमें जनशक्ति का सम्यक् नियोजन हो पाया तो समाज की रुग्णता को सरलता से दूर किया जा सकता है।

३. सत्पुरुष बनाने का उपक्रम

इस सृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण प्राणी है मनुष्य। इस धरती पर पहला मनुष्य कब आया, यह कहना कठिन है। किन्तु आज वह पांच अरब से भी अधिक संख्या में अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ रहा है। मनुष्य जाति एक और अविभाज्य है, पर सब मनुष्यों का स्वभाव एक जैसा नहीं होता। राजर्षि भर्तृहरि ने चार प्रकार के मनुष्यों की चर्चा की है—सत्पुरुष, साधारण पुरुष, राक्षस पुरुष और अनाम पुरुष। सत्पुरुष वे होते हैं, जो अपने स्वार्थ को गौण कर परहित का सम्पादन करते हैं। जो लोग अपना स्वार्थ साधते हुए परहित-साधन के लिए तत्पर रहते हैं, वे साधारण पुरुष होते हैं। जो व्यक्ति अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए परहित को कुचल देते हैं, वे राक्षस पुरुष होते हैं। जो लोग बिना किसी प्रयोजन परहित को विघटित करते हैं, वे कौन पुरुष हैं? उनके लिए कोई विशेषण ही उपलब्ध नहीं है। इसलिए उन्हें अनाम पुरुष कहा जा सकता है।

अणुव्रत का उद्देश्य है कि मनुष्य सत्पुरुष बने। मैं अपनी प्रवचन-सभाओं में बहुत बार कहता हूँ कि आप जैन बनें या नहीं, गुडमैन अवश्य बनें। गुडमैन बनें, अच्छे आदमी बनें, सत्पुरुष बनें। मनुष्य जीवन की सार्थकता किसी के हितों को कुचलने में नहीं है। संसार में जितने आतंकवादी हैं, वे क्या कर रहे हैं? दूसरों के हितों को विघटित करना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया है। अन्यथा वे निरपराध व्यक्तियों का अपहरण क्यों करते हैं? फिरौती में लाखों-करोड़ों रुपयों की मांग क्यों करते हैं? मासूम बच्चों का अपहरण क्यों करते हैं? रुपये न मिलने पर उनको मौत के घाट क्यों उतार देते हैं? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनके उत्तर किसी गहरी खामोशी में खो गए हैं।

आतंकवादी प्रत्यक्ष हिंसक हैं। इस संसार में परोक्ष हिंसक भी कम नहीं

६ : दीये से दीया जले

हैं। जहर की गोली को सुगरकोटेड कर देने से क्या उसका जहर समाप्त हो जाता है? हिंसा के मनोभावों की दिशा बदलने मात्र से क्या वे अहिंसा का रूप पा सकते हैं? जातीयता की धरती हिंसा के बीज अंकुरित करने के लिए सब प्रकार से उर्वर है। साम्प्रदायिकता की विषबेल पर आने वाले फलों का परिणाम हिंसा के रूप में प्रकट होता है। छुआछूत की भावना मनुष्य के मन में पनप रही हिंसा की अभिव्यक्ति नहीं है तो और क्या है? नशे की संस्कृति हिंसा के अतिरिक्त अन्य भयंकर अपराधों की भी जननी है। चुनावी हिंसा का बुखार तो लाइलाज बनता जा रहा है। घरबारी लोगों के लिए अर्थहिंसा से बचना संभव नहीं है, किन्तु प्रकृति का अतिमात्र दोहन क्या अनर्थ हिंसा नहीं है? आर्थिक भ्रष्टाचार से कौन-सी अहिंसा फलित होती है? हिंसा के ये नए-नए चेहरे इतने खौफनाक हैं कि इनके कारण देश में असुरक्षा और अनिश्चिन्तता की भावना दिनोंदिन अधिक पुष्ट होती जा रही है।

हिंसा के इस गहरे अन्धकार में लोग भ्रयभीत हैं। प्रातःकाल घर से बाहर जाते समय उनके मन में यह आशंका रहती है कि सांझ तक सही-सलामत घर लौट पाएंगे या नहीं। इस अंधेरे में कोई प्रकाशदीप है तो वह है संकल्प की चेतना, व्रत की चेतना। व्रत भारतीय संस्कृति का प्राणतत्त्व है। व्रत और कानून में अन्तर है। कानून आरोपित होता है, व्रत स्वीकृत होता है। कानून टूटता है तो व्यक्ति को ग्लानि नहीं होती। कानून तोड़ने से यदि कोई डरता है तो उसके परिणाम से डरता है, दण्ड से डरता है। व्रत या संकल्प टूटता है तो व्यक्ति का मन ग्लानि से भर जाता है। जब तक वह उसका प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं कर लेता, शान्ति से नहीं जी सकता। इसी कारण मैंने व्रत शब्द को अपने मिशन के साथ जोड़ा। लोक कल्याणकारी यह मिशन 'अणुव्रत' और कुछ नहीं, मनुष्य को अच्छा मनुष्य—सत्पुरुष बनाने का उपक्रम है।

सत्पुरुष बनाने का उपक्रम : ७

४. प्रासंगिकता संयम की

अणुव्रत जीवन का दर्शन है, समाज का दर्शन है, मानवीय मूल्यों का दर्शन है और चरित्र का दर्शन है। साइन्स और टेक्नोलॉजी से उसका कोई विरोध नहीं है। उसका विरोध है असंयम से। जिस राष्ट्र के जीवन-दर्शन में असंयम घुला हो, वह राष्ट्र संयम, चरित्र या मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास क्यों करेगा? जिस राष्ट्र की धमनियों में असंयम का रक्त प्रवाहित हो रहा हो, वहां संयम को आदर्श क्यों माना जाएगा? त्याग और भोग की दिशाएं सर्वथा भिन्न हैं। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिम के रास्ते अलग-अलग होते हैं, उसी प्रकार संयम और असंयम के रास्ते भिन्न-भिन्न हैं। अणुव्रत संयम का रास्ता है।

कोई भी सदी क्यों न हो, पांचवीं सदी हो या पचीसवीं, संयम कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकता। जब तक संयम की प्रासंगिकता है, अणुव्रत कभी अप्रासंगिक नहीं बन पाएगा। अणुव्रत व्यक्ति को संन्यासी बनाने की बात नहीं करता। वह जीवन को परिष्कृत या संशोधित करने का निर्देश देता है। उसकी न कोई जाति है और न कोई सम्प्रदाय। वह किसी वर्ग विशेष के लिए है, यह बात भी नहीं है। क्षेत्रीय सीमाएं उसकी गति को बाधित नहीं करतीं। मानव मात्र को संयम की दिशा में प्रेरित करने वाली आचार-संहिता का नाम है—अणुव्रत।

अणुव्रत न स्वर्ग की चर्चा करता है और न मोक्ष की। वर्तमान जीवन की शैली कैसी हो? उसका एक मॉडल प्रस्तुत करता है—अणुव्रत। इस सदी का मनुष्य हिंसा, आतंक, युद्ध, वैमनस्य, घृणा आदि समस्याओं से आक्रान्त है। साम्प्रदायिक उन्माद की घटनाएं बढ़ती जा रही हैं। धर्म के नाम पर राजनीति खेली जा रही है। व्यवसाय की प्रतिस्पर्धा से नीति नामक तत्त्व को

८ : दीये से दीया जले

गौण किया जा रहा है। नशे की संस्कृति युवापीढ़ी को गुमराह बना रही है। चुनाव की धांधली ने लोकतंत्र की पवित्रता के आगे प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया है। पर्यावरण का संकट गहराता जा रहा है। अणुव्रत इस प्रकार की सब समस्याओं को समाहित करने की दिशा प्रशस्त कर सकता है, बशर्ते कि मनुष्य गहरी आस्था के साथ व्रतों का अनुशीलन करे।

अणुव्रत का दर्शन मुख्यतः संयम का दर्शन है। संग्रह और व्यक्तिगत भोग की सीमा का सिद्धान्त आर्थिक दृष्टि से पनपने वाली बुराइयों की जड़ पर कुठाराघात करता है। पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि का संयम पर्यावरण को प्रदूषित होने से रोक सकता है। इस बात को सिद्धान्ततः स्वीकार करने पर भी जीवन-व्यवहार में संयम का यथेष्ट अभ्यास नहीं हो पा रहा है। यह मानवीय दुर्बलता है कि मनुष्य जिस जीवन-शैली को समाधानकारक और उन्नत मान रहा है, उसे भी स्वीकार नहीं कर पा रहा है। इसका मूलभूत कारण है प्रतिरोधात्मक शक्ति अथवा प्रतिस्रोत में बहने की क्षमता का अभाव।

शिक्षा में अणुव्रत दर्शन का प्रवेश एक उपाय है संस्कार-परिवर्तन की दिशा में नई संभावनाओं के द्वार खोलने का। विद्यार्थी जीवन में अणुव्रत की शिक्षा का अभ्यास हो जाए तो संयम की साधना दुष्कर नहीं रहती। इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने का समय सामने है। सात वर्षों का समय बहुत लम्बा समय नहीं होता। उस समय तक अणुव्रत जैसे व्यापक जीवन-दर्शन को आत्मसात् किया जा सके तो अगली सदी का प्रवेश पूरी भव्यता और दिव्यता के साथ हो सकेगा। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि अणुव्रत-दर्शन आगामी सदी को उजालने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकेगा।

५. शान्ति का उत्स है संयम

धर्म अमृत है। अमृत जब जहर का काम करने लगे तो उसे पीना कौन चाहेगा? धर्म शान्ति एवं सद्भावना का प्रतीक है। उसके नाम पर साम्प्रदायिक उन्माद बढ़ेगा, तो धर्म को महत्त्व कौन देगा? धर्म और मजहब—ये दो भिन्न तत्त्व हैं। दोनों को एक मान लिया गया, समस्या की जड़ यही है। मजहब के बिना भी धर्म हो सकता है क्या? इस प्रश्न का सीधा-सा समाधान है अणुव्रत।

अणुव्रत धर्म है, पर सम्प्रदाय नहीं है। अणुव्रत धर्म है, पर उसकी कोई उपासना-विधि नहीं है। परलोक सुधारने के लिए धर्म की आराधना, यह अणुव्रत की आस्था नहीं है। अणुव्रत का दर्शन वर्तमान की स्वस्थता पर आधारित है। इसका विश्वास मानवीय मूल्यों में है। कठिनाई यह है कि मूल्य जीवन से फिसलते जा रहे हैं। जीवन के साथ मूल्यों को जोड़ने का एक छोटा-सा उपक्रम है अणुव्रत।

अणु और व्रत—इन दो शब्दों के योग से अणुव्रत बना है। अणु सूक्ष्मता का वाचक है और व्रत की चेतना संकल्प-शक्ति की प्रतीक है। जाति, देश, धर्म, रंग, लिंग आदि भेदरेखाओं को पार कर इन्सान को इन्सानियत की प्रेरणा देना अणुव्रत का लक्ष्य है। मंदिर और मस्जिद के विवादों से दूर रहकर ऊंचा जीवन जीने की दिशा का प्रशस्तीकरण अणुव्रत का फलित है। धार्मिक कहलाने से पहले नैतिक बनने की दृष्टि देकर अणुव्रत ने नैतिकताशून्य धर्म के आगे प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया।

वर्तमान युग की सबसे बड़ी त्रासदी है—कथनी और करनी में विरोध। व्यक्ति कहता कुछ है और करता कुछ है। यह स्थिति राजनीति और व्यवसाय क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। धर्म के मंच से भी जब ऐसी विसंगतियों का

१० : दीये से दीया जले

आविर्भाव होता है तो मनुष्य के हाथ से आस्था का सूत्र छूट जाता है। अणुव्रत उस सूत्र को पुनः हस्तगत करने की दिशा में उठा हुआ एक नन्हा-सा कदम है। जिन विषम परिस्थितियों में यह कदम उठा है और बढ़ा है, इसी क्रम से बढ़ता रहा तो मनुष्य की आस्था को नया आधार देने में सफल हो सकेगा।

अणुव्रत हृदय-परिवर्तन की प्रेरणा है। व्यक्ति का सुधार इसे काम्य है। पर यह व्यक्ति तक पहुंचकर रुकता नहीं है। व्यक्ति के माध्यम से समाज, राष्ट्र और विश्व सुधार की दिशा में गति का आश्वासन यही दे सकता है। 'संयमः खलु जीवनम्'—संयम ही जीवन है, इस घोष के सहारे अणुव्रत ने जन-जन की चेतना को शंकृत किया है। मनुष्य की भोगवादी और सुविधावादी मनोभूमि सुख-शान्ति की फसल उगा सके, यह असंभव है। जिस माटी में संयम की सौंधी गन्ध होगी, उसी में सुख शान्ति का अंकुरण संभव है—इस आस्था का जागरण और प्रसारण आज की सबसे बड़ी अपेक्षा है।

६. लोकतन्त्र का मन्दिर

लोकतन्त्र का मन्दिर सबके लिए खुला है। वहां कोई भी जा सकता है, पूजा कर सकता है और स्वयं को लोकतंत्र का पुजारी मान सकता है। पुजारी मानने और बनने में जो अन्तर है, वह जब तक नहीं मिटेगा, लोकतंत्र की सही पूजा नहीं हो सकेगी। पूजा की गलत प्रक्रिया उन सबके लिए कष्टकर हो जाती है, जो लोकतंत्र के भक्त हैं। वे ऐसे पुजारियों को बाहर ही रोकना चाहते हैं, किंतु उनकी घुसपैठ रुकती नहीं है। जिनको मुख्य द्वार से प्रवेश नहीं मिलता है, वे पीछे से घुस जाते हैं और लोकतंत्र के मन्दिर को अपवित्र बनाने से बाज नहीं आते।

यह राजनीति है। इसमें जनहित गौण रहता है और वोटहित प्रमुख बन जाता है। कैसा विचित्र खेल है। इस खेल में सम्मिलित होने वाले खिलाड़ी जनता के वोट बटोरते हैं। वे जनता की समस्या का समाधान करेंगे और सब कुछ गौण करके जनहित के लिए काम करेंगे, इस आश्वासन पर उन्हें वोट मिलते हैं। सब कुछ गौण होता है, उसमें जनता का हित भी गौण हो जाता है। इसका ताजा उदाहरण है संसद का वर्तमान गतिरोध।

जहां संसद है, वहां पार्टियां होती हैं। पार्टियां हैं तो उनमें पक्ष और प्रतिपक्ष भी होते हैं अन्यथा संसद का स्वरूप नहीं बन सकता। किंतु जहां पक्ष-प्रतिपक्ष के स्थान पर पक्ष-विपक्ष हो जाते हैं, वहां कोई भी काम सद्भावना से नहीं हो सकता। आपसी सद्भावना का लोप अनेक समस्याओं को उभरने का मौका देता है।

गत वर्ष हम लाडनूं थे। भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी वहां आए। पक्ष-विपक्ष की चर्चा चली। हमने उनसे कहा—‘ विपक्ष शब्द ही गलत है। विपक्ष का अर्थ होता है विरोधी पक्ष। विरोधी दृष्टिकोण से वैमनस्य और

शत्रुता को बढ़ावा मिलता है। शासन का काम है जनता की सुरक्षा, जनहित की सुरक्षा और राष्ट्र का विकास। इस काम में सत्तारूढ़ पक्ष की जितनी जिम्मेदारी है, उतनी ही जिम्मेदारी प्रतिपक्ष की है। सत्तारूढ़ दल की कमजोरी पर प्रतिपक्ष को अंगुली उठाने का अधिकार है। किंतु पक्ष-विपक्ष में जनहित की विस्मृति और अपने एवं अपनी पार्टी के हितों की स्मृति रहती है। आडवाणीजी बोले—‘प्रतिपक्ष शब्द अच्छा है।’

वर्तमान स्थिति की समीक्षा की जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज प्रतिपक्ष के सिंहासन पर विपक्ष बैठा हुआ है। संसद के गतिरोध का मूल कारण यही है। बात तो इतनी-सी है कि प्रतिभूति घोटाले के संबंध में संसदीय समिति की जो रिपोर्ट संसद में रखी गई, उस पर पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों अड़े हुए हैं। प्रतिपक्ष की मांग है कि रिपोर्ट वापस लो, उसके अनुसार कार्यवाही करने के बाद उसे सदन के पटल पर प्रस्तुत करो। सरकार उस रिपोर्ट को वापस लेने के लिए तैयार नहीं है। दोनों के अपने-अपने राजनीतिक हित हैं। प्रतिपक्ष ने संसद का बहिष्कार कर दिया और सरकार संसद चलाने के लिए संकल्पित है। पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों की उपस्थिति बिना संसद कैसे चलेगी? दोनों की खींचातानी में राष्ट्र का कितना अहित हो रहा है, इस ओर किसी का ध्यान नहीं है।

हमें न सरकार से कुछ लेना है और न प्रतिपक्ष को कुछ देना है। राष्ट्रीय चरित्र निर्माण के लिए हमने यह यात्रा की। चरित्र-निर्माण का अभियान चल रहा है। ऐसे समय में अपना दायित्व समझकर हमने एक प्रयत्न शुरू किया है। सरकार और प्रतिपक्ष—सबको एक विशेष संदेश दिया है। इस आशा के साथ संदेश दिया है कि वे पूर्वाग्रहों और प्रतिष्ठा के प्रश्न को एक ओर रखकर गतिरोध को दूर करें। ऐसा नहीं हुआ तो, ‘घर में हानि और लोक में हंसी’ वाली कहावत चरितार्थ होगी। जो परिस्थिति से समझौता करना जानता है, वह सफल होता है। समझौते की भाषा में नहीं सोचने वाला पिछड़ जाता है। विफल हो जाता है। मुझे विश्वास है कि गतिरोध दूर होगा और भारतीय संसद की गरिमा सुरक्षित रहेगी।

७. नशे की संस्कृति

महानगरों, नगरों, कस्बों, गांवों और देहातों में समान रूप से प्रभावी बनने वाली संस्कृति की पहचान 'नशे की संस्कृति' के रूप में हो रही है। इस संस्कृति के सूत्रकार कौन हैं? इसका प्रथम प्रयोग कब हुआ? इसको विस्तार किसने दिया? इसके परिणामों के बारे में सबसे पहले कब किसने सोचा? और इसे नियंत्रित कैसे किया जा सकता है? इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो समाधान की प्रतीक्षा में उद्ग्रीव होकर खड़े हैं। इस सन्दर्भ में गंभीर शोध और व्यापक बहस की अपेक्षा है। अन्यथा यह नशे की नागिन अपने शीघ्र प्रभावी जहर से मानव जाति के अस्तित्व के लिए संकट पैदा कर सकती है।

नशे की आदत कैसे लगती है? इस प्रश्न पर विचारकों के अलग-अलग अभिमत हैं। कुछ व्यक्ति चिन्ता, थकान और परेशानी से छुटकारा पाने की चाह से नशे के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। कुछ व्यक्ति संघर्षों से जूझने के लिए नशा करते हैं। कुछ व्यक्ति चुस्त, दुरुस्त और आधुनिक कहलाने के लोभ में नशे के चंगुल में फंसते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो दूसरे लोगों को धूम्रपान या मदिरापान करते हुए देखते हैं तो उनके मन में एक उत्सुकता जागती है और उनके कदम बहक जाते हैं। कुछ व्यावसायिक ऐसी आकर्षक वस्तुओं का निर्माण करते हैं कि उपभोक्ता उनका प्रयोग किए बिना रह नहीं सकता।

कुछ व्यक्ति साथियों के लिहाज या दबाव के कारण नशे के शिकार होते हैं और भी अनेक कारण हो सकते हैं। कारण कुछ भी हो, एक बार नशे की लत लग जाने के बाद मनुष्य विवश हो जाता है। फिर तो वह प्रयत्न करने पर भी उससे मुक्त होने में कठिनाई का अनुभव करता है।

१४ : दीये से दीया जले

प्राचीनकाल में लोग सोमरस तथा हुक्का पीते थे। आधुनिक युग में इसी बात को आधार बनाकर कहा जाता है कि नशे की संस्कृति आदिम काल से जुड़ी हुई है। गिरते व्यक्ति को थोड़ा-सा धक्का ही काफी है। जिन लोगों का मन दुर्बल है, उनके लिए इतनी-सी बात बहुत बड़ा आलम्बन है। किन्तु ऐसा कहने मात्र से नशे के दुष्परिणामों से बचा नहीं जा सकता। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में घुल रही अनेक विकृतियों के मूल में एक बड़ा कारण नशे की प्रवृत्ति है। इससे आर्थिक, शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर मनुष्य का जितना अहित होता है, उसे आंकड़ों में प्रस्तुति दी जाए तो उसकी आंखें खुल सकती हैं।

क्या मद्यपान को रोका जा सकता है? क्या धूम्रपान को नियंत्रित किया जा सकता है? इस प्रकार की संदिग्ध मनोवृत्ति से कभी सफलता नहीं मिलती। सफलता का पहला सूत्र है दृढ़संकल्प और दूसरा सूत्र है संकल्प की पूर्ति के लिए कारगर उपायों की खोज। कुछ लोग मादक व नशीले पदार्थों के उत्पादन और सेवन पर रोक लगाने की मांग करते हैं। कुछ लोग चाहते हैं कि पाठ्यक्रम में ऐसे पाठ जोड़े जाएं, जो मादक एवं नशीले पदार्थों के सेवन से होने वाले दुष्परिणामों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करते हों। कुछ लोग इलेक्ट्रॉनिक्स प्रचार माध्यमों से वातावरण या मानसिकता बदलने की बात करते हैं। कुछ लोगों का चिन्तन है कि तम्बाकू की खेती और बीड़ी उद्योग कामगारों के सामने नया विकल्प प्रस्तुत किया जाए। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि चिन्तन के कोण अलग-अलग हैं, पर लक्ष्य सबका एक है। ऐसी स्थिति में क्या यह संभव हो सकता है कि उक्त विचारधारा वाले सभी व्यक्ति और संगठन मिलकर एकसूत्रीय कार्यक्रम बनाएं और 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' को भी इसके लिए सहमत किया जाए। यदि ऐसा हो सका तो मेरा विश्वास है कि नशे की संस्कृति के जमते हुए पांवों को उखाड़ने में अधिक सुविधा रहेगी।

८. भ्रूण हत्या : एक प्रश्नचिह्न

हिंसा बढ़ रही है। आतंकवाद फैल रहा है। अपहरण की संस्कृति अपनी जड़ें जमा रही है। चोरी और लूटमार की घटनाएं थमी नहीं हैं। हत्याओं और आत्महत्याओं का सिलसिला चल रहा है। समाचार पत्रों में ये संवाद सुखियों में प्रकोशित होते हैं। हिंसा से जुड़ी ऐसी घटनाओं की स्थान-स्थान पर भर्त्सना होती है। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति इनको उचित नहीं मानता। जिस युग में मानवाधिकार की चर्चा वैश्विक स्तर पर चलती हो, उस युग में असुरक्षा और आतंक का वातावरण बहुत बड़ी चुनौती बनकर खड़ा है। जिस समय मजदूरों को बन्धक बनाने और बालश्रम की प्रवृत्तियों के औचित्य पर प्रश्नचिह्न खड़े हो रहे हों, उस समय बिना ही किसी अपराध के मनुष्य को गोलियों से भून देना किस मनोवृत्ति का परिचायक है?

हर मनुष्य को जीने का अधिकार है। मनुष्य ही क्यों, प्राणीमात्र जीने का अधिकारी है। किसी भी प्राणी के प्राणों को बलात् लूट लेना हिंसा है। हिंसा के दो रूप हैं— अपरिहार्य और परिहार्य। एक गृहस्थ को जीवनयापन के लिए जो हिंसा करनी पड़ती है, उससे बचना संभव नहीं है। अपरिहार्य या आवश्यक हिंसा को रोका नहीं जा सकता। किन्तु जिस हिंसा से बचा जा सकता है, जिसके बिना जीवन चल सकता है, वैसी हिंसा होती है तो लगता है कि मनुष्य क्रूर बन रहा है। ऐसी हिंसा को रोकना आवश्यक है। किन्तु जिस देश या समाज में अर्थहिंसा की तरह अनर्थहिंसा को भी वैध मान लिया जाता है, कानून के संरक्षण में निश्चिन्त होकर आदमी सरेआम हत्या करता हो, उस देश या समाज में संवेदनशीलता कहां रहेगी?

संसार में मात्स्य न्याय चलता है। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है। शक्तिशाली पशु दुर्बल पशुओं को मार कर पेट भरते हैं। कुछ पशु

१६ : दीये से दीया जले

आदमखोर भी होते हैं। ऐसे पशुओं को समाप्त करने का अभियान चलाया जाता है। पर मनुष्य तो पशु नहीं है। वह अकारण ही किसी जीव की हत्या करे, दुर्बल और बेजुबान प्राणियों का प्राणवियोजन करे, इसमें उसकी क्या महत्ता है? मनुष्य स्वभावतः हत्यारा नहीं है। मनुष्य जाति के दो वर्ग हैं— पुरुष और स्त्री। स्त्री को करुणा की मूर्ति माना जाता है। पर जब उसका नाम हत्या के साथ जुड़ता है तो आश्चर्य होता है। हत्या भी किसकी? पशु-पक्षियों की नहीं। आक्रान्ता मनुष्य की नहीं। अपराधी मनुष्य की नहीं। अपने ही खून की हत्या। कितनी नृशंसता ! कितनी क्रूरता ! एक स्त्री इतनी नृशंस और क्रूर क्यों हो जाती है? शोध का विषय है।

जिस हत्या की मैं चर्चा कर रहा हूँ, वह है भ्रूणहत्या। एक मां अपनी अपाहिज संतान का पालन-पोषण करती है, उस समय वह एक देवी प्रतीत होती है। निःस्वार्थ भाव से अपनी सुख-सुविधाओं का बलिदान करने वाली वह मां अपने अजन्मे शिशु को मारने की स्वीकृति कैसे दे देती है? इस विषय में कानून क्या कहता है, मुझे उसमें नहीं उलझना है। मानवीय अधिकार की दृष्टि से यह अनुचित है। क्या उस शिशु को जीने का अधिकार नहीं है? निरपराध हत्या की दृष्टि से भी यह गलत है। बेचारे उस शिशु ने किसका क्या अपराध किया? जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए गर्भपात को वैध मानना माता-पिता की गलती का प्रायश्चित्त उसकी सन्तान को देना है। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से इसको महापाप माना गया है। आचार्य भिक्षु ने लिखा है—

सर्पिणी इंडा गिलै आपरा, अस्त्री मारै निज भरतार,
बले चाकर मारै ठाकर भणी, गुरु नै शिष्य न्हाखै मार।

इम कर्म बंधै महामोहणी॥

सर्पिणी अपने अण्डों को खाती है, स्त्री अपने पति की हत्या करती है नौकर अपने स्वामी को मारता है और शिष्य अपने गुरु का प्राणान्त करता है तो महामोहनीय कर्म का बंध होता है। उस युग में संभवतः भ्रूणहत्या नहीं होती थी। अन्यथा उक्त पद्य में इसका भी समावेश हो जाता। भ्रूणहत्या एक जघन्य अपराध है। कोई भी धर्मशास्त्र इसकी अनुमति नहीं दे सकता। यह अपराध नीतिशास्त्र सम्मत भी कैसे हो सकता है? राष्ट्रवाद या स्वार्थवाद के

भ्रूण हत्या : एक प्रश्नचिह्न : १७

नाम पर जो नीति प्रवर्तित होती है, उसकी बात अलग है। क्योंकि वहां नीति पर स्वार्थ हावी हो जाता है।

भ्रूण परीक्षण की पद्धति अमानवीय बनती जा रही है। क्रोमोसोम की विकृति और वंशानुगत बीमारी की जांच के लिए परीक्षण की तकनीक विकसित हुई, किन्तु उसका उपयोग गर्भस्थ शिशु के लिंग की पहचान के लिए अधिक हो रहा है। यदि गर्भस्थ शिशु कन्या हुई तो उसके अस्तित्व पर ही संकट आ जाता है। वैज्ञानिक युग में भी लड़के और लड़की को लेकर रूढ़ और भ्रान्त धारणाओं को नहीं तोड़ा गया तो फिर ये कब टूटेगी? लड़का अपना भाग्य साथ लेकर आता है तो क्या लड़की अपना भाग्य बेचकर आती है? महावीर, बुद्ध और गांधी के देश में हिंसा का यह नया रूप भारतीय संस्कृति का उपहास है। कुछ प्रान्तों में गर्भ परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा है। किन्तु जब तक मनुष्य की मनोवृत्ति नहीं बदलेगी, वह नए रास्ते खोजता रहेगा।

अणुव्रत नैतिक मूल्यों का पक्षधर आन्दोलन है। अणुव्रती बनने वाला व्यक्ति न तो निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध करता है, न आत्महत्या करता है और न भ्रूणहत्या करता है। यदि अणुव्रत का यह एक नियम प्रभावशील बन जाए तो आतंकवाद के साथ-साथ भ्रूणहत्या जैसी अमानवीय प्रवृत्ति अपने आप नियंत्रित हो सकती है।

६. प्राकृतिक आपदाओं का एक कारण

मनुष्य ने प्रकृति-विजेता बनने का सपना देखा। उसने अपने स्वप्न को साकार करने के लिए पुरुषार्थ किया। आज वह दंभ भरता है कि उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है। उसका दावा है कि वह आकाश की बुलंदियों को छू सकता है और पाताल में पैठ सकता है। वह गर्म हवाओं को बर्फ-सी ठंडी बना सकता है और हिमानी रातों में ऊष्मा भर सकता है। वह विश्व के किसी भी भाग में रहने वाले लोगों से सीधा संपर्क स्थापित कर सकता है, उन्हें देख सकता है, उनके साथ बात कर सकता है और न जाने क्या-क्या कर सकता है। दूरदर्शन और दूरभाष की बात तो बहुत साधारण है, दूर चिकित्सा की विधियां भी विकसित हो रही हैं।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत कुछ होने पर भी कुछ भी नहीं हुआ है। प्रकृति का अपना साम्राज्य है। उस पर किसी का वश नहीं चलता। वह बार-बार मनुष्य के अहं को तोड़ रही है। कभी अतिवृष्टि, कभी अनावृष्टि। कभी बाढ़, कभी भू-स्खलन। कभी आंधी, कभी तूफान। प्रकृति के ये भयावह हादसे ! मनुष्य हाथ में हाथ बांधे निरीह होकर खड़ा है। वह इतना असहाय हो रहा है कि कुछ भी कर नहीं पाता।

महाराष्ट्र के कुछ इलाकों में प्रकृति ने जो कहर ढहाया है, सुन-पढ़कर रोमांच हो जाता है। प्रकृति की लीला विचित्र है। पता नहीं, कब कहां क्या घटित हो जाए? कब कहां ज्वालामुखी सुलग जाए और उसका लावा बहता हुआ धरती के नीचे उथल-पुथल मचाने लगे। अतीत ऐसे हादसों का साक्षी रहा है, वर्तमान इन्हें भोग रहा है और भविष्य उनकी भयावहता से कांप रहा है। भविष्य में जिस प्रलय की संभावना है, उसका चित्र जैन आगमों में है। किन्तु वह समय काफी दूर है। अठारह हजार वर्ष से भी कुछ अधिक समय

प्राकृतिक आपदाओं का एक कारण : १६

अब तक शेष है। इस अवसर्पिणी युग के अंत में उस भयावह स्थिति से सामना करना होगा। पर उसके लक्षण अभी प्रकट होने लगे हैं, यह चिन्ता की बात है।

चिन्ता किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। समस्या के मूलभूत कारणों की खोज के बाद ही समाधान का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। प्राकृतिक आपदा का एक बड़ा कारण है—मनुष्य का असंयम। प्रकृति का अतिमात्रा में होने वाला दोहन असंयम की प्रेरणा बिना संभव ही नहीं है। यदि मनुष्य अपने जीवन में संयम का अभ्यास करे, तपस्या का प्रयोग करे तो बहुत संभव है कि वह प्राकृतिक आपदाओं को दूर धकेलने या टालने में सफल हो जाए।

पौराणिक घटना है। द्वारिका पर कोई असुर कुपित हुआ। देवप्रकोप से उसके दहन का प्रसंग उपस्थित हो गया। वहां के नागरिक अर्हत अरिष्टनेमि की शरण में गए। उनके दिशादर्शन में द्वारिका के लोगों ने तप का सुरक्षाकवच तैयार कर लिया। असुर आता, उपद्रव करना चाहता, पर तपस्या के प्रभाव से उसकी शक्ति प्रतिहत हो जाती। एक-एक कर कई वर्ष बीत गए। नागरिकों के मन का भय मिट गया। वे प्रमत्त होने लगे। एक दिन ऐसा आया, जब द्वारिका में उपवास, आयम्बिल आदि कोई तप नहीं हुआ। असुर को मौका मिल गया। उसने अपनी शक्ति का प्रयोग किया। द्वारिका भस्मसात् हो गई।

तपस्या की शक्ति अपरिमित है। आत्मशान्ति और विश्वशान्ति के लिए निरंतर तपोयज्ञ का अनुष्ठान किया जाए तो वांछित लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है और प्रासंगिक रूप में प्राकृतिक एवं मानवीय आपदाओं से भी त्राण मिल सकता है।

१०. विज्ञापन संस्कृति

शक्ति, समृद्धि और बुद्धि की अधिष्ठात्री है नारी। पौराणिक मिथकों में उजागर नारी का यह स्वरूप उसे अभय, स्वावलम्बन और सृजन की प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित करता है। किन्तु यथार्थ के फलक पर भारतीय नारी भीरु, परावलम्बी और रूढ़ता की बेड़ियों में जकड़ी हुई दिखाई देती है। शक्तिहीन होने के कारण उसके साथ छेड़छाड़ और बलात्कार जैसी घटनाएं हो रही हैं। कहीं-कहीं तो उसे निर्वस्त्र करके सड़क पर घुमाने जैसे हादसे हो रहे हैं। देवता और गुरु के समान पूज्य नारी का यह अपमान भारतीय संस्कृति के मस्तक पर कलंक का धब्बा है।

आर्थिक परावलम्बन नारी जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी है। इसी के कारण वह पुरुष का सहारा खोजती है। अपना जीवन अपने ढंग से जीने की बात वह सोच ही नहीं सकती। मैं यह नहीं कहता कि आर्थिक स्वावलम्बन के लिए उसके मन में उद्योग के शिखर पर पहुंचने की प्रतिस्पर्धा जागे। पर इस क्षेत्र में भी वह इतनी पिछड़ी हुई क्यों रहे कि स्वाभिमान से सिर उठाकर भी न चल सके। पुरुष की बुद्धि और शक्ति का उपयोग अर्थार्जन में होता है तो क्या घर का संचालन बिना बुद्धि और शक्ति के होना संभव है? एक नारी को पूरे दिन में जितने निर्णय लेने पड़ते हैं और काम निपटाने पड़ते हैं, क्या किसी पुरुष के वश की बात है?

नारी का व्यक्तित्व पूरे परिवार का व्यक्तित्व है। उसके व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया तेज होनी चाहिए। वह स्वयं व्यक्तित्व-शून्य रहकर अपनी भावी पीढ़ी का निर्माण कैसे कर सकेगी? यह बात नहीं है कि आज की नारी अपने व्यक्तित्व के प्रति सचेत नहीं है। एक समय था, जब नारी को अपने अस्तित्व की भी पहचान नहीं थी। पर वर्तमान युग में वह कहीं अपनी अस्मिता बचाने

विज्ञापन संस्कृति : २१

के लिए संघर्ष कर रही है, कहीं स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए प्रयत्नरत है और कहीं व्यक्तित्व के शिखर पर आरोहण कर रही है। यह दूसरी बात है कि उसके व्यक्तित्व की परिभाषाएं बदल गई हैं। इसका सबसे अधिक प्रभाव हुआ है उसके पहनावे पर।

एक राजस्थानी कहावत है—‘लुगाई ढकी-ढूमी पूठरी लागै’। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्त्री और पुरुष के पहनावे को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो पुरुष के अंगोपांग अधिक आवृत्त रहते हैं। भारतीय नारी की वेषभूषा पर विचार किया जाए तो उसके कई रूप सामने आते हैं। एक ओर मुस्लिम नारी के सामने बुर्के की बाध्यता है। अब इस परंपरा में भी बदलाव आ रहा है। दूसरी ओर हिन्दू समाज की महिलाएं खुले अंगों वाली वेषभूषा में रुचि रखती हैं। कुछ महिलाएं, जो रूढ़िवादी होने पर भी आधुनिकता के प्रभाव से बच नहीं पाई हैं। वे अपने चेहरे को आवृत रखती हैं पर पेट को अनावृत रखती हैं। लगता है, उनमें आवरणीय और अनावरणीय का विवेक कम है। अन्यथा अन्य अंगों को खुला रखकर मुंह को ढकने की बात बुद्धिगम्य ही नहीं होती।

विज्ञापन संस्कृति में नारी-देह का जिस रूप में दुरुपयोग किया जा रहा है, उसके प्रतिरोध में महिला संगठन सक्रिय बनें, यह युग की अपेक्षा है। किन्तु इस अपेक्षा से आंखें मूंदकर विज्ञापनों, मॉडलों और फिल्मों की वेषभूषा को मानक मानकर उसे प्रचलित करना कहां की समझदारी है? महिलाओं की विकृत वेषभूषा को देखकर पुरुषों की वासना को उत्तेजना मिले और वे उनके साथ दुर्व्यवहार करने की चेष्टा करें, इसमें दोष किसका?

समाज या सरकार महिलाओं को क्या सुरक्षा देगी? सबसे बड़ा सुरक्षा कवच है उनका अपना विवेक और संयम। साहस भी आवश्यक है। पर उससे पहले विवेक और संयम जरूरी है। वेषभूषा के सन्दर्भ में चालू प्रवाहपातिता को मोड़ देने के लिए समाज की जागरूक महिलाएं एक क्षण रुककर सोचें। उनका दायित्व है कि वे आवश्यकता, शालीनता और तथाकथित आधुनिकता के बीच रही भेदरेखा को पूरी गंभीरता से उभारकर महिला समाज को सही दिशा दें।

११. पानी में मीन पियासी

अणुव्रत का एक घोष है—संयम ही जीवन है। मैं बहुत बार सोचता हूँ कि यह घोष थ्योरीटिकल है या प्रैक्टिकल? यदि इसे थ्योरीटिकल ही माना जाएगा, केवल सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाएगा तो जीवन में इसका कोई उपयोग नहीं हो पाएगा। सिद्धान्तों से शास्त्र भरे पड़े हैं। मनुष्य उन्हें पढ़ लेता है, समझ लेता है और दूसरों को समझा देता है, पर सिद्धान्त केवल इसीलिए नहीं होते। उनका प्रैक्टिकल रूप भी सामने आना चाहिए, प्रयोग करके देखना चाहिए। वैज्ञानिक युग में प्रयोगशाला में सिद्ध हुए बिना किसी भी तत्त्व को लोकसम्मत बनाना कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तों को भी प्रायोगिक रूप देने की अपेक्षा है। प्रयोग की भूमि सामूहिक भी हो सकती है, किन्तु व्यक्तिगत प्रयोग व्यक्ति की निजी सम्पदा बन जाता है।

महाराज जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा—‘महर्षे ! मैं देखना चाहता हूँ, कैसे देखूँ? महर्षि ने कहा—‘सूरज का प्रकाश है, चांद की ज्योत्स्ना है, तारे, ग्रह और नक्षत्र भी हैं। इनकी ज्योति में तुम अपना पथ देखो।’ महाराज जनक बोले—‘महर्षे! अमावस्या की काली रात हो और व्यक्ति मकान के भौंहे में बैठा हो, वहां कैसे दिखाई देगा? चांद, ग्रह, नक्षत्र और तारों का प्रकाश भौंहे तक पहुंचेगा नहीं।’ याज्ञवल्क्य ने कहा—‘वहां शब्द की ज्योति से देखा जा सकता है। जिस दिशा से आवाज आए, उस दिशा में आगे बढ़ते रहना।’ जनक का अगला प्रश्न था—‘यदि वहां शब्द भी न हों तो?’ याज्ञवल्क्य का उत्तर था—‘जहां बाहर की ज्योति उपलब्ध न हो, वहां अपने भीतर की ज्योति—आत्मज्योति से देखना।’ आत्म-ज्योति सबके पास होती है, पर उसका उपयोग कौन करता है?

पानी में मीन पियासी : २३

कबीर का एक प्रसिद्ध गीत है—‘पानी में मीन पियासी’। मछली पानी में रहती है और प्यास से तड़पती है। इस बात को सुनकर कबीर ही नहीं, कोई भी हंस सकता है। पर हंसने से क्या होगा? यह इस संसार की विचित्रता है। जब तक मनुष्य को आत्म-ज्ञान उपलब्ध नहीं होता, वह मथुरा और काशी में भ्रमण करता रहता है। मृग जंगल में भटकता है। क्यों? कस्तूरी की गंध से आकृष्ट होकर वह चारों ओर दौड़ता है। उसकी दौड़ अज्ञान-जनित है। वह नहीं जानता कि कस्तूरी तो उसकी अपनी ही नाभि में है।

हजारों-हजारों ऋषि-मुनि इस संसार में हैं। वे दिन-रात ध्यान करते हैं। परमात्मा का जप करते हैं। ध्यान और जप की साधना के द्वारा वे बाहर-बाहर परमात्मा की खोज करते रहेंगे तो उनका परमात्मा से साक्षात्कार कहां होगा? इस खोज में कितने ही वर्ष बीत जाएं, लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। क्योंकि जिसकी खोज की जा रही है, वह अविनाशी परमपुरुष परमेश्वर व्यक्ति के भीतर ही विराजमान है।

मनुष्य सुख की अभिलाषा करता है। सुख कहां है? पदार्थ के भोग में सुख का आभास अवश्य हो सकता है। पर वास्तविक सुख वहां नहीं है। सुख है त्याग में, संयम में। संयम का प्रवाह बह रहा है, सामने बह रहा है, फिर भी आदमी दुःखी है। क्योंकि वह संयम को गौण कर असंयम का सहारा ले रहा है। असंयम में दुःख है, इस सचाई को देखकर भी अनदेखा किया जा रहा है। कीचड़ में फंसा हुआ हाथी देखता है कि सामने सूखी जमीन है, फिर भी वह वहां तक पहुंच नहीं पाता। वह फीचड़ से उठने की चेष्टा करता है, पर उठ नहीं सकता। कीचड़ से बाहर निकले बिना सूखी जमीन तक पहुंचने की कल्पना साकार कैसे हो सकती है?

हाथी पशु है। उसमें ज्ञान नहीं है, विवेक नहीं है, इसलिए वह कष्ट भोगता है। मनुष्य ज्ञान-सम्पन्न है। उसकी विवेक चेतना जागृत है। वह जानता है कि सुख का मार्ग क्या है और दुःख का मार्ग क्या है? यह सब जानता हुआ भी वह दुःख के मार्ग पर आगे बढ़ता है। संयम को प्रायोगिक न बनाकर सैद्धान्तिक रूप में ही उसका गुणगान करता है। ऐसी स्थिति में कबीर की अनुभूति—‘पानी में मीन पियासी’ शत-प्रतिशत सत्य प्रमाणित हो रही है।

२४ : दीये से दीया जले

१२. वर्तमान को देखो

हमारी संस्कृति में आस्था और विश्वास के कुछ विशेष प्रतीक थे। उन प्रतीकों में आत्मा, परमात्मा, धर्म, उपासना, स्वर्ग-नरक आदि को उपस्थित किया जा सकता है। समय बदला। चिन्तन का कोण बदला और बदल गया जीवन का व्यवहार। वर्तमान युग में आस्था के नये प्रतीक हैं अन्तरिक्ष यात्राएं, वैज्ञानिक आविष्कार, आधुनिक टेक्नोलॉजी, विद्युत-शक्ति के चमत्कार आदि। आत्मा, ईश्वर आदि में होने वाला विश्वास चरित्र की परिक्रमा करता है। स्वर्ग का आकर्षण और नरक की विभीषिका भी अपराध चेतना की दिशा को बदल सकती है। किन्तु जहां चरित्र हाशिये पर चला जाता है और अपराधी मनोवृत्ति पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं रहता, वहां समाज रसातल में चला जाता है।

मैं अतीत और अनागत को अपने चिन्तन से ओझल नहीं करता। पर उन्हीं को सब कुछ मान कर नहीं सोचता। अतीत व्यक्ति के वर्तमान का आधार बनता है और भविष्य की कल्पनाओं के आधार पर वर्तमान को संवारा जाता है। इस दृष्टि से वर्तमान अपने अतीत और अनागत का आभारी रहता है। किन्तु वर्तमान को दूसरे स्थान पर रखते ही मनुष्य के आचार-विचार की दिशा बदल जाती है। इसलिए जो लोग अच्छा और सच्चा जीवन जीना चाहते हैं, उनको पूरा ध्यान वर्तमान पर केन्द्रित करना होगा।

मनुष्य क्रिया करता है। पर सामान्यतः वह क्रिया नहीं, प्रतिक्रिया करता है। किस व्यक्ति ने उसके साथ कैसा व्यवहार किया है, इस कसौटी को वह अपने व्यवहार की तुला बनाता है। जब तक यह तुला सामने रहेगी, मनुष्य निरपेक्ष चिंतन और व्यवहार नहीं कर पायेगा। इस बात को मैं जानता हूं कि प्रतिक्रियाओं से बचना कोई सरल काम नहीं है। पर प्रतिक्रियाओं में ही

वर्तमान को देखो : २५

जीना जीवन की कोई उपलब्धि नहीं है। कर्तव्य की प्रेरणा और दायित्व का बोध मनुष्य को स्वतंत्र रूप से सोचने के लिए विवश करता है। कर्तव्य और दायित्व की चेतना का जागरण ही व्यक्ति को वर्तमान से प्रतिबद्ध करता है।

मनुष्य अपने जीवन को सही ढंग से जीना चाहता है तो वह वर्तमान को पहचाने, क्षण को समझे और उसका उपयोग करे। यह क्षण बहुत कीमती होता है। इसे खो दिया गया तो पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहेगा। प्रश्न हो सकता है कि क्षण का उपयोग कैसे किया जाये? तपस्या, ध्यान, स्वाध्याय, सेवा आदि अनेक उपक्रम हैं। पर ये अनुष्ठान सबके वश की बात नहीं है। ऐसी स्थिति में अणुव्रत कहता है कि मनुष्य और कुछ कर सके या नहीं, अपने आपको नैतिक बना ले, प्रामाणिक बना ले, उसका जीवन सफल हो जायेगा।

कुछ लोग कहते हैं, देश में सुरक्षा का संकट है। कुछ लोग मानते हैं कि जातियों और पार्टियों को लेकर होने वाला बिखराव बड़ा संकट है। कुछ लोगों का चिन्तन है कि विकट संकट चरित्र का है। संकट के और भी अनेक रूप हो सकते हैं। उनसे त्राण देने वाला एक ही तत्त्व है। वह तत्त्व है नैतिकता। अणुव्रत नैतिकता की मशाल लेकर चल रहा है। जिस समाज या राष्ट्र के लोग इस मशाल को थाम कर चलेंगे, वहां असुरक्षा, बिखराव और चरित्रहीनता का अंधेरा टिक ही नहीं पायेगा।

१३. अनुकरण की प्रवृत्ति: विवेक की आंख

अनुकरण मनुष्य का सहज वृत्त है। सामाजिकता का विकास इसा वृत्त के आधार पर होता है। एक नवजात शिशु परिवार में सब लोगों को बोलते हुए देखता है, वह बोलना सीख लेता है। उसी बच्चे को वर्षों तक एकान्त में रखा जाए, लोगों के साथ उसके संपर्क सूत्रों को तोड़ दिया जाए, तो उसकी वाणी नहीं फूट सकती, वह गूंगा हो जाता है। बोलने की तरह और भी बहुत-सी प्रवृत्तियां हैं, जिनको देखकर ही सीखा जा सकता है। इस अर्थ में अनुकरण का अपना महत्त्व है। आगे बढ़ने के लिए इसकी नितान्त अपेक्षा है। अनुकरण का यह सिलसिला बचपन के साथ समाप्त नहीं होता। वयस्क होने के बाद भी अनेक बातों में अनुकरण चलता है।

कहा जाता है कि वयस्क व्यक्तियों का सर्वे किया जाए तो अनुकरण की वृत्ति पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में अधिक पाई जाती है। पुरुष अनुकरण नहीं करते, यह बात नहीं है। पर उनके अनुकरण की सीमाएं होती हैं। अनुकरण का सिद्धान्त कई दृष्टियों से अच्छा है, यदि उसके साथ विवेक की पुट रहे। विवेकहीन अनुकरण अन्धानुकरण बन जाता है। इसमें लाभ या विकास की संभावना नहीं रहती। कुछ प्रवृत्तियां तो ऐसी हैं, जिनके अनुकरण से लाभ के स्थान पर नुकसान होता है। ऐसे प्रसंगों पर विवेक की आंख को खुला रखा जाए, यह नितान्त अपेक्षित है।

मैं परंपरा का विरोधी नहीं हूं। अच्छी परंपराएं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रान्त होती रहें, यह आवश्यक है। जिस देश या समाज में परम्परा को कांच का बर्तन मानकर एक झटके से तोड़ दिया जाता है, वह देश और समाज अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक विरासत को सुरक्षित नहीं रख सकता। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वांछित एवं अवांछित—सभी

अनुकरण की प्रवृत्ति: विवेक की आंख : २७

प्रवृत्तियों की परम्परा आगे बढ़ाई जाए या उनका अनुकरण किया जाए। किसी भी प्रवृत्ति का अनुकरण करने से पहले दो क्षण रुककर सोचें कि उसका जीवन पर क्या प्रभाव होगा? फिर चाहे वह प्रवृत्ति तात्कालिक हो अथवा दीर्घकालिक।

वर्तमान युवा पीढ़ी के कुछ लोग नाखून बढ़ाते हैं। प्रारंभ में किसी व्यक्ति ने किसी उद्देश्य से नाखून बढ़ाए होंगे। ऐसा भी हो सकता है कि अपने आपको सबसे अलग दिखाने के लिए यह प्रवृत्ति चली हो। देखादेखी यह प्रवृत्ति बढ़ी। कई युवक-युवतियों के नाखून बढ़ गए। मैंने एक युवक से नाखून बढ़ाने का कारण पूछा। वह सकपका गया। कुछ भी बोल नहीं सका। महिलाएं बढ़े हुए नाखूनों में सौन्दर्य का दर्शन करती होंगी, पर प्राचीन चित्रों की अवधारणा के अनुसार तो इसमें राक्षसी वृत्ति का प्रतीकन किया गया है।

बात केवल नाखून की ही नहीं है, ऊंची एड़ियों की चप्पलें, अलग भांति के कपड़ों की कारी डाले हुए वस्त्र, बाल बनाने की शैली, जन्मदिन के अवसर पर केक काटने की प्रवृत्ति आदि कितने ही काम ऐसे हैं, जो देखादेखी किए जा रहे हैं। ऐसा करने वालों को न तो इन प्रवृत्तियों की उपयोगिता का बोध है और न ही अपनी संस्कृति पर होने वाले हमले की पहचान है। व्यवसायी लोगों के सामने एक लक्ष्य है—अधिक-से-अधिक पैसा बटोरना। वे फैशन की दृष्टि से बाजार में नई-नई चीजें लाते हैं। पर उनका उपयोग करने वाले केवल अनुकरण ही करते रहेंगे तो अपने हिताहित पर विचार कब करेंगे?

बड़े शहरों में एक नई प्रवृत्ति विकसित हो रही है—फलों और सब्जियों को पशु-पक्षियों का आकार देकर सजावट अथवा खाद्य-पदार्थ के रूप में उनका उपयोग करना। माना कि वे पशु-पक्षी कृत्रिम हैं, पर उससे भावी पीढ़ी अव्यक्त रूप में मांसाहार की दिशा में अग्रसर हो सकती है। हमारी अहिंसा-प्रधान संस्कृति पर एक दृष्टि से यह सीधा आक्रमण है। इस प्रकार की और भी बहुत-सी प्रवृत्तियां हो सकती हैं। इन सब समस्याओं का समाधान एक ही है कि अनुकरण के क्षेत्र में विवेक का पूरा जागरण हो। ऐसा होने से ही अवांछनीय प्रवृत्तियों पर रोक संभव है।

१४. तलाश आदमी की

मैं आदमी की तलाश में घूम रहा हूँ। मेरे सामने दो प्रकार के चिन्तन हैं—पहला चिन्तन कहता है—आदमी की खोज क्यों ? आदमियों का सैलाब उमड़ रहा है। देखते-देखते जनसंख्या कितनी बढ़ गयी। भारत की पैंतीस करोड़ की आबादी पचानवे करोड़ को छूने जा रही है। विश्व की आबादी पांच अरब की संख्या को पीछे छोड़ चुकी है। दूसरा चिन्तन कहता है—आदमियों की संख्या घट रही है। जिस ओर दृष्टि जाती है, सूटबूटधारी मनुष्यों की भीड़ दिखाई देती है, पर उसमें आदमी कितने हैं, कहना कठिन है। दूसरे शब्दों में यह माना जा सकता है कि आदमी तो हैं, पर आदमियत कहीं खो गई है। इन्सान बढ़ रहे हैं, पर इन्सानियत का क्षरण हो गया है या हो रहा है। ऐसी स्थिति में आदमी की तलाश अपना विशेष महत्त्व रखती है।

आदमी दो प्रकार के हैं—अच्छे और बुरे। संसार में अच्छे लोगों की संख्या अधिक है या बुरे लोगों की? यह एक प्रश्न है। कहने को ऐसा कहा जाता है कि जमाना बहुत बुरा है। आदमी का मन खराब है। वह पापों और अपराधों में आकंठ डूब गया है। उसके आचरण का धरातल खिसक गया है। उसे उचित-अनुचित का विवेक नहीं है। अविवेकी व्यक्ति चारों ओर बुराइयों से घिर जाता है, यह चिन्तन का एक कोण है। इसका दूसरा कोण विधायक है। उसके अनुसार आज भी अच्छे आदमी अधिक हैं, पर दिखाई देने वाले बुरे आदमी हैं। उदाहरण के रूप में एक जनसभा को प्रस्तुत किया जा सकता है। हजारों लोगों की सभा में खड़ा होकर एक व्यक्ति बकवास करने लगे तो सबका ध्यान उसकी ओर चला जाता है। शांति से बैठे रहने वाले हजारों लोगों को देखकर भी अनदेखा कर दिया जाता है। क्योंकि उनकी ओर ध्यान आकर्षित करने वाला कोई कारण नहीं है।

तलाश आदमी की : २६

अच्छे आदमियों की कोई कमी नहीं है, पर उनमें दो कमियां अवश्य हैं। पहली कमी यह है कि वे संगठित नहीं हैं। संगठन में शक्ति होती है। बिखरे हुए तिनकों की संहति से बनी हुई बुहारी पूरे घर का कूड़ा-करकट साफ कर देती है। अनेक लकड़ियों से बनी हुई भारी को कोई मजबूत आदमी भी नहीं तोड़ सकता। अलग-अलग बिखरी हुई लोहे की कड़ियां कुछ भी नहीं कर सकतीं। पर उनके संयोग से बनी हुई सांकल हाथी और सिंह को भी बांध देती है। यही स्थिति अच्छे लोगों की है। उनका संगठन सुदृढ़ हो जाये तो वे समाज की धरती पर पनपने वाले असामाजिक तत्त्वों को धराशायी कर सकते हैं। काश ! आदमी अपनी इस क्षमता को समझ कर उसका सम्यक् उपयोग कर पाता।

अच्छे लोगों की दूसरी कमी है बुराई या बुरे लोगों के प्रति उपेक्षा का भाव। कोई व्यक्ति या समूह बुराई में प्रवृत्त होता है, उसकी जानकारी पाकर या उसे देखकर भी जो लोग हरकत में नहीं आते, चुपचाप बैठे रहते हैं, उन्हें क्या कहा जाये? बुराई करना पाप है, इसी प्रकार बुराई को सहन करना भी पाप है। ऐसा पाप आज बहुत लोग कर रहे हैं। वे सोचते होंगे कि बिना प्रयोजन झंझट में क्यों फंसें? ऐसे चिंतन पर मुझे तरस आता है। क्या आदमी का जीवन इतना व्यक्तिगत है? इकोलॉजी के नियम को समझने वाले जानते हैं कि एक आदमी पर कोई आपदा आती है, उससे पूरी मानव जाति प्रभावित होती है। ऐसी स्थिति में कोई भी चिंतनशील आदमी उपेक्षा की संस्कृति का शिकार कैसे हो सकता है? अच्छे आदमियों का संगठन और बुराई के प्रतिकार की दिशा में उनकी जागरूकता— ये दो घटनाएं घटित हो जाएं तो विश्व के चित्रपट पर अच्छे आदमी उभर कर ऊपर आ सकते हैं।

१५. क्या खोया? क्या पाया?

इस संसार का सबसे श्रेष्ठ प्राणी है मनुष्य। उसकी श्रेष्ठता के मापक बिंदु हैं— विचार, विवेक और आचरण। मनुष्य के पास जैसा मस्तिष्क है, अन्य किसी प्राणी के पास नहीं है। इस दृष्टि से उसकी विचार-प्रक्रिया विलक्षण है। मनुष्य के पास हेय-उपादेय का जितना विवेक है, अन्य प्राणियों के पास नहीं है। इस दृष्टि से वह विशिष्ट है। मनुष्य का आचरण जितना उन्नत हो सकता है, अन्य प्राणियों में वैसी संभावना नहीं है। इस दृष्टि से वह पूर्णता के शिखर पर पहुंच सकता है। इस विलक्षणता, विशिष्टता और पूर्णता की संभावना के बावजूद वह अशान्त है, भ्रान्त है और श्रान्त है। वैज्ञानिक युग में, इतनी उपलब्धियों के युग में उसकी अशान्ति दूर नहीं हुई, भ्रान्तियों का घेरा नहीं टूटा और श्रान्ति से राहत नहीं मिली। क्यों? यह यक्षप्रश्न आज भी अनुत्तरित है।

मनुष्य की उपलब्धियां असीम हैं। उनका संख्यांकन होना कठिन है। नया पाने, बटोरने और उसको सुरक्षित रखने की चिन्ता में वह भूल ही गया कि उसने कुछ खोया भी है। उसकी सबसे बड़ी सम्पदा 'आस्था' खो गई। आज मनुष्य की न धर्म में आस्था है, न भगवान् में आस्था है, न सिद्धांतों में आस्था है और न अपने आप में आस्था है। आस्था की डोर से बंधा हुआ आदमी निर्लक्ष्य गति करके भी उत्पथ में नहीं जाता। जहां आस्था की डोर ही टूट जाए या छूट जाए, वहां अशान्ति नहीं तो और क्या होगा? आस्था की धरती पर भ्रान्तियों का जंगल नहीं उगता। आस्था की छाया में चलने वाले जीवन रथ के अश्व भी कभी नहीं थकते।

मनुष्य ने आस्था का स्थान अर्थासक्ति को दे दिया है। अर्थ अनर्थ का मूल है, यह कथन एकांगी है। अर्थ का भी निश्चित अर्थ होता है। उसे

क्या खोया? क्या पाया? : ३१

जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक माना गया है। पर वही सब कुछ है, यह चिंतन भी एकांगी है। आज का आदमी उसे ही सब कुछ मान रहा है। अयं अट्टे अयं परमट्टे सेसे अणट्टे—यही अर्थ है, यही परमार्थ है, शेष अनर्थ है। भगवान् महावीर के भक्तों ने यह बात निर्ग्रन्थ प्रवचन के सन्दर्भ में कही। किन्तु लोगों की दृष्टि इतनी अन्तर्मुखी नहीं है। उन्होंने उस कथन को अर्थ के साथ जोड़ दिया, ऐसा प्रतीत होता है। अर्थ को ही अर्थ और परमार्थ मानना अशान्ति को खुला आमन्त्रण देना है।

लोग कहते हैं कि वे जिस युग में जी रहे हैं, वह युग कलियुग है। कलियुग में अशान्ति नहीं होगी तो और क्या होगा? कलियुग है, यह बात सही है। प्रश्न होता है—कलि कौन है? इसका उत्तर तैत्तिरीय उपनिषद देता है—

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः ।

उत्तिष्ठन् त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन् ॥

जो सोता है, वह कलि होता है। जो निद्रा का त्याग करता है, वह द्वापर होता है। जो खड़ा होता है, वह त्रेता कहलाता है और जो चलता है, वह सत्य को प्राप्त करता है।

उपनिषद की भाषा प्रतीकात्मक है। युग का क्या सोना और क्या जागना। युग कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। वह आता है तो लोग सोचते हैं कि यह कुछ समय रुकेगा। किन्तु वह नदी के प्रवाह की तरह आगे बढ़ जाता है। लोग सजग होते हैं तब तक वह उनकी पकड़ से बाहर चला जाता है। चार युगों की व्याख्या उनमें जीने वाले मनुष्य के सन्दर्भ में की गई है। जिस युग के लोग गहरी सुषुप्ति में रहते हैं, वह कलियुग है। जिस युग के लोग नींद से अपना पल्ला छुड़ाकर अंगड़ाई लेते हैं, जाग जाते हैं, वह द्वापर युग है। त्रेता युग का आदमी उठने का प्रयास करता है। उसका यह प्रयास ही उसे सतयुग में ले जाता है। सतयुग के लोग न सोते हैं और न हाथ पर हाथ देकर बैठते हैं। निरन्तर गतिशील रहते हैं। 'चरन् वै मधु विन्दते'—जो चलता है, वही लक्ष्यसिद्धि के रूप में मधु को प्राप्त करता है। इसलिए 'चरैवेति चरैवेति'—चलते चलो, सत्यरुषार्थ करो। कलियुग भी तुम्हारे लिए सतयुग बन जाएगा।

३२ : दीये से दीया जले

हजारों वर्ष पहले हमारे ऋषियों की तपःपूत वाणी ने जिस सत्य को उजागर किया, उसकी विस्मृति होती जा रही है। मनुष्य ने अपना मस्तिष्क कम्प्यूटर को गिरवी रख दिया है। शायद यही कारण है कि वह स्मरणीय बातों को भूलता जा रहा है। कम्प्यूटर का बहुत उपयोग है, पर उसी के भरोसे रहने से कभी धोखा भी हो सकता है। दूसरों का भरोसा करने से पहले अपने आप पर भरोसा करना जरूरी है। स्वयं पर भरोसा वही कर सकता है, जिसकी आस्था जीवंत है। अणुव्रत का प्रयत्न आस्था को पुनर्जीवन देने का प्रयत्न है। नैतिक मूल्यों के प्रति क्षीण हो रही आस्था जिस दिन जागेगी, वह युग सही अर्थ में सतयुग होगा। उस युग में जीने वाले लोग भ्रान्त धारणाओं के घेरे को तोड़कर शान्त और संतुलित जीवन जी सकेंगे।

१६. धर्म और सम्प्रदाय

मनुष्य की आस्था के अनेक केन्द्र होते हैं। उनमें एक शक्तिशाली केन्द्र है धर्म। सिख, ईसाई, इस्लाम, जैन, बौद्ध, बहाई, यहूदी, ताओ आदि बहुत धर्म हैं इस संसार में। एक-एक धर्म के अनुयायियों की संख्या लाखों-करोड़ों में है। उनकी अवधारणा में वह धर्म सर्वश्रेष्ठ है, जिससे वे जुड़े हुए हैं। अणुव्रत कहता है कि ये सब धर्म नहीं, सम्प्रदाय हैं। धर्म एक अविभक्त सत्य है। वह खण्डों में विभाजित नहीं होता। उसके साथ विशेषण जोड़ने की अपेक्षा ही क्या है ? निर्विशेषण धर्म ही जनधर्म या लोकधर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। यदि धर्म के साथ कोई विशेषण जोड़ना ही हो तो वह हो सकता है मानव धर्म, अहिंसा धर्म, सत्य धर्म या आचार धर्म। क्या कोई भी सम्प्रदाय धर्म के इस स्वरूप को अस्वीकार कर सकता है?

कुछ लोग पूछते हैं—'क्या सम्प्रदाय के बिना भी धर्म हो सकता है?' इस प्रश्न का उत्तर है अणुव्रत। अणुव्रत का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष के साथ नहीं है। एक जैन अणुव्रती बन सकता है तो एक मुसलमान भी अणुव्रती बन सकता है। अणुव्रत की स्वीकृति में जाति का भी कोई बन्धन नहीं है। हरिजन, महाजन या गिरिजन कोई भी हो, नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था है तो अणुव्रती हो सकता है। भौगोलिक सीमाएं भी अणुव्रत को संकीर्ण नहीं बनाती हैं। भारतीय व्यक्ति को अणुव्रती बनने का जितना अधिकार है, उतना ही किसी जापानी, फ्रांसीसी, अमेरिकन, ब्रिटिश आदि को है। इसमें काले और गोरे का भी कोई भेदभाव नहीं है। लिंगगत प्रतिबद्धता को भी यहां कोई स्थान नहीं है। पुरुष की तरह महिला को भी सम्मान और गौरव के साथ अणुव्रती बनाया जा सकता है। अणुव्रत एक ऐसा

३४ : दीये से दीया जले

मंच है, जिसका उपयोग अच्छा जीवन जीने की आकांक्षा रखने वाले लोग कर सकते हैं।)

कुछ लोग कहते हैं—‘भ्रष्टाचार इतना बढ़ गया, नैतिक मूल्यों का क्षरण हो गया, ऐसे समय में अणुव्रत क्या कर सकता है?’ नैतिक पतन की बात जो लोग कर रहे हैं, वे गलत नहीं हैं। जीवन के हर क्षेत्र में सदाचार की कमी आई है। फिर भी मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भारत की भूमि से सदाचार की जड़ें नहीं उखड़ सकतीं। भारतीय जनता कभी चरित्रशून्य हो नहीं सकती। उतार-चढ़ाव का जहां तक सवाल है, वह हर युग में आता रहता है। महत्त्वपूर्ण बात है दृष्टिकोण की। व्यक्ति जिस दृष्टि से देखता है, उसे संसार वैसा ही दिखाई देता है।

दो मित्र बात कर रहे थे। एक बोला—‘कैसा कलिकाल है ! चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा है। दो रात्रियों के बीच एक उजला दिन होता है।’

मित्र की बात सुनकर दूसरे व्यक्ति ने कहा—‘मुझे तो चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश दिखाई देता है। दो उजले दिनों के बीच में एक ही अंधेरी रात होती है।’

एक ही सन्दर्भ में दो व्यक्तियों के भिन्न विचार इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि दृष्टिकोण के भेद से एक ही बात, एक ही घटना और एक ही दृश्य को अनेक कोणों से देखा जा सकता है और उसके अलग-अलग अर्थ निकाले जा सकते हैं। दृष्टिकोण विधायक हो तो आदमी को सब कुछ अच्छा दिखाई देता है और दृष्टिकोण यदि निषेधात्मक होता है तो प्रकाश भी अंधकार बन जाता है।

नैतिक मूल्यों के बारे में मेरा चिन्तन यह है कि क्षरण के बावजूद भारतीय संस्कृति मूल्यों से गुंथी हुई है। देश में आज भी अच्छाई और सचाई सुरक्षित है। राख के नीचे अंगारों की तरह वह दबी हुई है। उसे उभारने की अपेक्षा है। अच्छाइयां सामने रहेंगी तो बुराइयां टिक नहीं पाएंगी। बुराइयां अकेली चल ही नहीं सकतीं। उन्हें गति के लिए आलम्बन की अपेक्षा रहती है। वे अच्छाइयों के सिर पर पांव रखकर ही आगे बढ़ सकती हैं। मनुष्य के जीवन में अच्छाइयां और बुराइयां दोनों होती हैं। बुराइयों का पलड़ा भारी न हो, यह जागरूकता उसे अनेक बुराइयों से बचा सकती है।

अणुव्रत कोई हवाई कल्पना नहीं है। बहुत ऊँचे आदर्शों को आत्मसात् करने की बात भी नहीं है। यह मानवीय मूल्यों की रक्षा का एक छोटा-सा अभियान है। अच्छे जीवन की न्यूनतम आचार-संहिता है। उत्कृष्ट आचार के लिए इसमें पर्याप्त अवकाश है। फिर भी वह यथार्थ की धरती से दूर हटकर कोई बात नहीं करता है। अणुव्रत मनुष्य को देवता बनाने का उपक्रम नहीं है। इसका लक्ष्य है—मनुष्य को मनुष्य बनाना। मनुष्यता के मापक बिन्दु ये हो सकते हैं:—

- प्राणी मात्र के प्रति संवेदनशीलता।
- मानवीय सम्बन्धों में उदार दृष्टिकोण।
- व्यक्तिगत चरित्र की उदात्तता।
- खानपान की शुद्धि और व्यसनमुक्ति।
- व्यक्तिगत हित या स्वार्थ के लिए किसी के हितों को विघटित न करना।

इसी प्रकार की कुछ और बातें जीवन के साथ जुड़ती रहें और मनुष्य मनुष्यता के शिखर पर आरोहण करता रहे, यही अणुव्रत है। यात्रापथ कितना ही लम्बा क्यों न हो, अणुव्रत का साथ है तो फिर भय की कोई बात नहीं है।

१७. बीमारी अनास्था की

जीवन अशाश्वत है, क्षणभंगुर है, यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है। पूर्वजन्म में किसी का विश्वास हो या नहीं, पुनर्जन्म को कोई माने या नहीं, किन्तु यह तथ्य निर्विवाद है कि जो जीवन जीया जा रहा है, वह सदा नहीं रहेगा। वह कब तक रहेगा? इसका भी किसी को भरोसा नहीं है। फिर भी मनुष्य प्रमाद करता है, असद् आचरण करता है और परिणाम की चिन्ता किए बिना प्रवृत्ति करता है।

किसी मनुष्य का आत्मा या परमात्मा में विश्वास हो या नहीं, उसकी सुख-शान्तिमय जीवन जीने की आकांक्षा सदा प्रबल रहती है। वह जीवन की पवित्रता के प्रति आस्थाशील हो या नहीं, पर दूसरे के गलत आचरण को सहन नहीं कर पाता। सत्य की खोज में उसकी शक्ति लगे या नहीं पर वह सत्य को समझने का दावा करता रहता है। समाज और राष्ट्र के लिए उसने कुछ किया हो या नहीं, पर वह समाजद्रोही और राष्ट्रद्रोही कहलाना नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में मनुष्य को अपने जीवन की दिशा का निर्धारण करना चाहिए। उसे ऐसी दिशा में प्रस्थान करना चाहिए, जो उसके जीवन को तनाव, कुंठा, संत्रास और अस्थिरता की त्रासदी से बचा सके।

मनुष्य जानता है कि जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल मिलता है। वह यह भी जानता है कि उसके लिए करणीय क्या है और अकरणीय क्या है? फिर भी वह करणीय को छोड़कर अकरणीय में रस लेता है। वह मौत से डरता है, फिर भी जहर निगलता जा रहा है। वह अशान्ति नहीं चाहता, फिर भी ऐसे काम करता है, जिनसे अशान्ति को रोका नहीं जा सकता। वह जेल से डरता है, फिर भी हत्या, डकैती आदि दुष्कृत्यों से विरत नहीं होता। क्यों? वह कौन-सी अभिप्रेरणा है, जो मनुष्य को गलत मार्ग पर

बीमारी अनास्था की : ३७

चलने के लिए बाध्य करती है?

मन जानै सब बात, जानत ही औगुन करै ।

काहे की कुशलात, कर दीपक कुवे पड़ै ॥

मनुष्य इतना समझदार प्राणी है कि वह सही या गलत सब कुछ जानता है। जानने, समझने के बावजूद वह गलत दिशा ले रहा है। उसकी यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है, जो हाथ में दीया होने पर भी कुएं में जाकर गिर रहा है? अनजाने में होने वाला प्रमाद क्षम्य हो सकता है, पर जानते हुए जो प्रमाद हो, उसका प्रतिकार कैसे होगा?

आज पूरे विश्व के सामने कुछ समस्याएं सिर उठाए खड़ी हैं। विश्व के स्तर पर ही उनका समाधान खोजा जाए तो संभवतः कोई समस्या ऐसी नहीं है, जो अपने अस्तित्व को बचाकर रख सके। पर समाधान कौन खोजे? इस दिशा में पहल कौन करे? इन प्रश्नों पर एक गहरी चुप्पी चादर डालकर सो रही है। कौन उस चादर को उतारे? कौन उन प्रश्नों की गहराई में झांके? और कौन विश्व मानव को उसकी गरिमा से परिचित कराए?

जिसके पैर न फटी बिवाई, वो क्या जाने पीर पराई?

जिन लोगों के सामने किसी प्रकार का अभाव नहीं है, वे अभावग्रस्त लोगों की पीड़ा कैसे पहचान पाएंगे? मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं— भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, चिकित्सा आदि की पूर्ति भी जहां नहीं होती हो, वह कोई भी राष्ट्र हो, वहां अपराध बढ़ेंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ का दायित्व केवल आमने-सामने होने वाले युद्धों को रोकने तक ही सीमित क्यों हो? भीतर-ही-भीतर जो लड़ाई लड़ी जा रही है, उसके कारणों की खोज और उसकी रोकथाम का प्रयत्न क्या आवश्यक नहीं है?

आज की मूलभूत समस्या है—जीवन मूल्यों के प्रति अनास्था। अनास्था की इस बीमारी का उपचार किसी के पास नहीं है। बीमारी असाध्य हो, उससे पहले ही सही निदान और उपचार की जरूरत है। इसके लिए आध्यात्मिक, सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्रों से एक समन्वित प्रयास हो। इस प्रयास से कोई नई दिशा निकलेगी, ऐसी संभावना की जा सकती है।

३८ : दीये से दीया जले

१८. स्वस्थ कौन?

मनुष्य अस्वस्थ है, इसलिए अशान्त है। स्वस्थ मनुष्य कभी अशान्त नहीं होता। स्वस्थ कौन होता है? जो शरीर से स्वस्थ है, वह स्वस्थ होता है? जो मन से स्वस्थ है, वह स्वस्थ होता है? शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति स्थूल रूप से स्वस्थ कहलाता है, पर यह स्वस्थता की अधूरी परिभाषा है। मानसिक स्वस्थता का स्तर कुछ ऊंचा है, पर वह भी अपने आप में पूर्ण नहीं है। सर्वोत्तम स्वास्थ्य है भावनात्मक स्वास्थ्य—इमोशनल हेल्थ। शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती, पर भावनात्मक स्वास्थ्य के अभाव में शरीर और मन भी स्वस्थ नहीं रह सकते।

आज का आदमी शरीर के प्रति जितना जागरूक है, मन के प्रति नहीं है। वह भोजन, वेषभूषा, स्नान, भ्रमण आदि पर पर्याप्त ध्यान देता है, किन्तु संगीत, साहित्य, काव्य, कला, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि के प्रति पूरा जागरूक नहीं रहता। वह मन के प्रति जितना जागरूक है, भावों के प्रति नहीं है, आत्मा के प्रति नहीं है। वह रोजी-रोटी की चिन्ता से उपरत होकर सांस्कृतिक दृष्टि से कुछ सक्रिय हो जाता है, पर प्राणों की प्यास का अनुभव ही नहीं कर पाता। अस्वस्थता का अनुभव होने पर मनुष्य चिकित्सक के पास जाता है। वह शरीर की जांच कराता है, औषधि का सेवन करता है और स्वस्थ होना चाहता है। किन्तु न चिकित्सक स्वस्थ है और न औषधि स्वस्थ—शुद्ध है। अस्वस्थ से स्वास्थ्य की आशा करने से निराशा ही हाथ लगेगी।

स्वास्थ्य की समीचीन प्रक्रिया में सबसे पहले भावों पर ध्यान देना जरूरी है। भावों की स्वस्थता का अर्थ है भावों की पवित्रता। जो व्यक्ति अपने आवेगों और संवेगों पर नियंत्रण रखता है, निषेधात्मक भावों से मुक्त रहता है, उसके भाव पवित्र हो सकते हैं। निराशा, घृणा, आक्रोश, क्रूरता, छलना

स्वस्थ कौन? : ३६

आदि निषेधात्मक भाव हैं। जब तक व्याक्त पर इन भावों का छाया रहेगी, वह स्वास्थ्य लाभ नहीं कर पायेगा।

स्वस्थ जीवन की आधारभूत भूमिका है स्वस्थ जीवनशैली। न जागने का समय निश्चित है और न सोने का। शयन और जागरण की अनिश्चितता से पूरा कार्यक्रम अस्तव्यस्त हो जाता है। इस दृष्टि से जीवनशैली पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। यह एक ऐसा विषय है, जिसमें खानपान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, उत्सव, पर्व, त्योहार, पारस्परिक संबंध, व्यवसाय, धार्मिक आस्था आदि बहुत तत्वों का समावेश हो जाता है। साहित्य और संस्कृति का भी इसी के साथ संबंध है। इन बिन्दुओं पर विचार करते समय अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान स्मृति से ओझल नहीं होने चाहिए।

मनुष्य कैसा होना चाहिए? इसका सुन्दर मॉडल है अणुव्रत की आचार-संहिता। मनुष्य अपने आपको उस मॉडल में कैसे ढाले? इस प्रश्न का उत्तर है प्रेक्षाध्यान। अणुव्रत एक दर्शन है और प्रेक्षाध्यान एक प्रयोग है। अकेला दर्शन अधूरा होता है तो अकेला प्रयोग भी अधूरा होता है। इन दोनों को एक दूसरे का पूरक मानकर स्वस्थ जीवनशैली की कल्पना की जा सकती है। स्वस्थ जीवनशैली की प्राथमिक प्रक्रिया को शिक्षा के साथ जोड़ने का नाम है जीवन विज्ञान। विज्ञान में अध्यात्म और अध्यात्म में विज्ञान की सोच को निहित कर मनुष्य के संपूर्ण स्वास्थ्य अथवा स्वस्थ जीवन शैली के बारे में जागरूकता बढ़ने से ही भावात्मक स्वास्थ्य की उपलब्धि हो सकती है।

४० : दीये से दीया जले

१६. राष्ट्रीय चरित्र और शिक्षा

राष्ट्राय चरित्र को धूमिल या धवलिम करने में सबसे बड़ा हाथ हाता है शिक्षा का। एक समय था, जब देश परतन्त्र था। उस स्थिति में इस पर एक प्रकार की शिक्षा थोपी गई। उसका चरित्र भारतीय संस्कृति और लोक जीवन के अनुकूल नहीं था। इस बात को समझने पर भी उस शिक्षा का अस्वीकार संभव नहीं था। क्योंकि पराधीन व्यक्ति और राष्ट्र को वह सब स्वीकार करना पड़ता है, जो सत्ता के सिंहासन से कराया जाता है।

सामान्यतः शिक्षा का सम्बन्ध जीविका के साथ जोड़ा जाता है, जब कि वह जीवन के लिए अनिवार्य तत्त्व है। जहां जीविका को ही प्रधानता मिलती है, वहां साइन्स और टेक्नोलॉजी की शिक्षा का महत्त्व बढ़ता है और नैतिकता एवं चरित्र के तत्त्व गौण हो जाते हैं। उस बिन्दु पर जाकर शिक्षा कितनी दयनीय बन जाती है, जहां वह जीविका भी नहीं जुटा पाती। न जीवन और न जीविका। ऐसी शिक्षा राष्ट्र के लिए अभिशाप बन जाती है। जीवन मूल्यों से अपरिचित करोड़ों-करोड़ों ऐसे विद्यार्थी हैं, जो बेरोजगारी की राह पर खड़े जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए तरस रहे हैं। ऐसे समय में शिक्षानीति या शिक्षापद्धति की सार्थकता पर कुछ प्रश्न-चिह्न खड़े हो जाते हैं, जो समाज की अपेक्षा और बुनावट पर ध्यान दिए बिना ही विद्यार्थी पर पुस्तकें और डिग्रियों का भार लाद रही है।

विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की लंबी कतारें देश के शैक्षणिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए कटिबद्ध हैं। स्तर की परिभाषाएं अलग-अलग हैं। एक दृष्टि से आज का विद्यार्थी अतीत की अपेक्षा बहुत अधिक विषय पढ़ता है। वह देश-विदेश की हर गतिविधि से परिचित रहता है। कई क्षेत्रों में उसने अपनी दक्षता बढ़ाई है। किन्तु कुछ ऐसी बातें भी हैं,

जो स्तर को उठाने की अपेक्षा नीचा करने वाला प्रमाणित हा रहा ह। इन्दा का शुद्ध लेखन और उच्चारण स्नातक और स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए भी कठिन हो रहा है। साहित्यिक स्तर की हिन्दी को समझने में तो उन्हें एड़ी से चोटी तक पसीना आ जाता है। एक राष्ट्रभाषा अपने ही राष्ट्र में इतनी उपेक्षित हो जाए तो उसकी ओर ध्यान कौन देगा?

यह सच है कि किसी भी देश के वातावरण को बदलने में शिक्षा की भूमिका अहम होती है। देश के लाखों-करोड़ों विद्यार्थी जैसे संस्कार पाएंगे उन्हीं के आधार पर देश बनेगा। इस दृष्टि से शिक्षा पद्धति को ठोस बनाना जरूरी है। बहुत लोगों का यह अभिमत है कि हमारी शिक्षा पद्धति गलत है। मेरा चिन्तन इससे भिन्न है। मेरी दृष्टि में शिक्षा पद्धति गलत नहीं, अधूरी है। इससे बौद्धिक विकास हो रहा है, शारीरिक विकास पर भी थोड़ा ध्यान दिया जा रहा है, किन्तु मानसिक और भावनात्मक विकास शून्य की तरह है। आश्चर्य तो इस बात का है कि शिक्षा नीति में बदलाव के लिए कितने आयोग बने, कितनी रिपोर्टें आईं, पर हुआ कुछ नहीं। इस स्थिति में निराशा का वातावरण बन रहा है।

नैतिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा आदि शब्द आज इतने घिसे-पिटे हो गए हैं कि इनके प्रति कोई आकर्षण नहीं रहा है। नैतिक शिक्षा पर एक आपत्ति यह भी आ रही है कि जो शिक्षा दी जा रही है, क्या वह अनैतिक है? धार्मिक शिक्षा पर टिप्पणी यह है कि धर्म-निरपेक्ष देश में किसी धर्म-सम्प्रदाय विशेष की शिक्षा कैसे दी जा सकती है? ऐसी स्थिति में शिक्षा को सर्वांगीण बनाने के लिए गहराई से चिन्तन किया गया। उस चिन्तन की निष्पत्ति है जीवन विज्ञान। प्राथमिक कक्षाओं से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक जीवन विज्ञान का पाठ्यक्रम तैयार हो चुका है। इसमें सिद्धान्त पक्ष के साथ प्रायोगिक पक्ष पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। लक्ष्य यह रहा है कि विद्यार्थी के समग्र व्यक्तित्व का निर्माण हो। वह केवल बौद्धिक विकास पर रुके नहीं। उसमें आवेगों और संवेगों पर नियन्त्रण पाने की क्षमता भी बढ़े। साइन्स और टेक्नोलॉजी के साथ-साथ उसे सहिष्णुता, सन्तुलन, धृति, करुणा, संयम आदि जीवन मूल्यों का बोध-पाठ दिया जाए। शिक्षा के क्षेत्र में जीवन विज्ञान का प्रवेश शिक्षा संबंधी अनेक समस्याओं को स्थायी समाधान दे सकेगा, ऐसा विश्वास है।

४२ : दीये से दीया जले

२०. आशा का दीप : आस्था का उजास

यूनान का सम्राट् सिकन्दर भारत आया। भारतीय लोगों की जीवन-शैली कैसी है? उनके चिन्तन का स्तर कैसा है? उनका आचार-व्यवहार कैसा है? सिकन्दर के मन में ढेर-सारे प्रश्न थे। देश की स्थिति का आकलन करने के लिए वह घूमता-घूमता तक्षशिला पहुंचा। शहर से बाहर खेत में उसका पड़ाव हुआ। वहां किसानों की सभा हो रही थी। सभा में कुछ लोग काफी गंभीर चर्चा में उलझे हुए थे। सिकन्दर के मन में कुतूहल पैदा हुआ। उसने एक व्यक्ति को अपने पास बुलाकर पूछा—‘बात क्या है? ये लोग किस विषय में उलझे हुए हैं?’ उस व्यक्ति ने पूरे घटनाचक्र को विस्तार के साथ बताते हुए कहा—

‘यहां कुछ समय पहले एक खेत की बिक्री हुई। खेत खरीदने वाले ने उसमें हल जुतवाए। हल चलाने वाले को वहां स्वर्णमुद्राओं से भरा कलश मिला। उसने जमीन के मालिक को सूचित किया। वह खेत पर आया। उसने स्वर्णमुद्राओं से भरा कलश देखकर कहा—‘मैंने खेत खरीदा है। खेत पर मेरा अधिकार है। पर इस जमीन से जो खजाना निकला है, वह मेरा नहीं हो सकता। खेत के पूर्व मालिक को बुलाकर यह उसे सौंपना होगा।’

खेत का पूर्व मालिक आया। पूरी स्थिति की जानकारी पाकर वह बोला—‘मैंने खेत बेच दिया। अब इस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यह खजाना मैंने यहां गाड़ा नहीं। इस दृष्टि से भी इस पर मेरे स्वामित्व का कोई औचित्य नहीं है। जिनका खेत, उनका खजाना। मुझे बीच में न घसीटें तो अच्छा रहेगा।’ खेत के पूर्व और वर्तमान—दोनों मालिक अपनी बात पर अड़ गए। दोनों में से कोई भी वह स्वर्णमुद्राओं से भरा कलश अपने घर ले जाने के लिए तैयार नहीं हुआ। आखिर पंचायत बुलाई गई। पंचों ने दोनों व्यक्तियों

को समझाकर स्वर्णकलश लेने की बात कही। पर उनका निर्णय अटल है। अब देखते हैं कि पंच क्या फैसला देते हैं ?

सिकन्दर के मन में भी पंचायत का फैसला सुनने की भावना तीव्र हो उठी। पंचों ने फैसला सुनाया—‘खेत में जो खजाना निकला है, वह अब तक अज्ञात था। किस समय किस व्यक्ति ने उसे यहां गाड़ा, इस सम्बन्ध में किसी को कोई जानकारी नहीं है। ये दोनों व्यक्ति इसे अस्वीकार कर रहे हैं। बहुत समझाने के बावजूद ये इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। ऐसी स्थिति में पंचायत का निर्णय है कि सारा धन विश्वविद्यालय के उपयोग में लिया जाएगा।’ सिकन्दर खेत के दोनों मालिकों की निस्पृहता देखकर मन-ही-मन उनके प्रति प्रणत हो गया।

एक ओर अर्थ के प्रति इतनी अनासक्ति ! इतनी निस्पृहता ! दूसरी ओर अर्थ के प्रति अतिरिक्त लगाव। इतना अधिक लगाव कि अर्थ के मामले में उजली छवि की बात कल्पनालोक जैसी बात लगती है। ऊपर से लेकर नीचे तक प्रायः सब लोग आर्थिक असदाचार में लिप्त पाए जाते हैं। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थ ही जीवन बन गया है। उसके लिए औचित्य और अनौचित्य की सारी सीमाएं टूट गई हैं। यही कारण है कि कोई व्यक्ति किसी के बारे में कुछ भी कह सकता है। क्या भारत के वे दिन फिर कभी लौटेंगे, जब आर्थिक शुचिता के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन होगा? अणुव्रत ही एक आशादीप है, जो सिकन्दर जैसे विदेशी शासकों के मन में भारतीय आस्था का उजास पहुंचा सकता है।

२१. मानव जाति का आधार

धारा नगरी के राजा भोज और सस्कृत के महाकाव्य कालिदास के बारे में अनेक कथाएं, दन्तकथाएं, और घटनाएं प्रसिद्ध हैं। किसी विवादास्पद प्रसंग में कोई विद्वान कुछ भी कह दे, राजा भोज को संतोष नहीं होता। महाकवि कालिदास ही राजा को संतुष्टि दे सकता था। एक बार राजा भोज के मन में एक नई बात पैदा हुई। राजा ने कालिदास से कहा—‘महाकवे ! मेरी मृत्यु के बाद आप जो मरसिया पढ़ेंगे, उसे मैं आज अपने कानों से सुनना चाहता हूं।’ भोज ऐसी बात कह सकता था, पर कालिदास जैसा विवेकशील और विद्वान व्यक्ति उसे स्वीकार कैसे करता? वह बोला—‘मैं आपकी दीर्घजीविता की कामना करता हूं। इस सम्बन्ध में कविता सुनना चाहें तो सुना सकता हूं।’

राजा भोज जिस बात को पकड़ लेता, वह झटपट उससे छूटती नहीं थी। उसने आग्रह किया। कालिदास बोला—‘आप और कोई आदेश दें, मैं अविलम्ब उसकी क्रियान्विति करूंगा, पर ऐसी कविता नहीं सुनाऊंगा।’ राजा के आग्रह ने आक्रोश का रूप ले लिया और महाकवि कालिदास को देश से निर्वासित कर दिया। कालिदास चला गया। राजा भोज का मन नहीं लगा। वह वेश बदलकर कालिदास की खोज में निकल पड़ा। कुछ महीनों बाद एक गांव के बाहर तालाब के किनारे कालिदास बैठा था। संन्यासी के वेश में राजा वहां पहुंच गया। कालिदास ने पूछा—‘महात्मन् ! कहां से आ रहे हैं?’ संन्यासी बोला—‘धारा नगरी से।’ कालिदास के स्मृति पटल पर राजा भोज और धारा की अनेक स्मृतियां उभर आईं। उसने उत्सुक होकर पूछा—‘महाराज ठीक हैं न?’ संन्यासी कालिदास को पहचान रहा था। वह व्यथित होकर बोला—‘महाराज के सम्बन्ध में कुछ मत पूछो। कहने की बात नहीं है।’

मानव जाति का आधार : ४५

कालिदास आलुरता के साथ बोला—‘हुआ क्या?’ संन्यासी बोला—‘महाप्रतापी महाराज भोज को क्रूर काल ने उठा लिया। इसी कारण मैं धारा छोड़कर आया हूँ।’

कालिदास ने भोज की मृत्यु का संवाद सुना और उसका कविहृदय मुखर हो उठा—

अद्य धारा निराधारा, निरालम्बा सरस्वती ।

पंडिता खंडिताः सर्वे, भोजराजे दिवंगते ॥

राजा भोज के दिवंगत हो जाने से नगरी धारा निराधार हो गई। सरस्वती का सहारा छूट गया और विद्वान टूट गए।

संन्यासी के वेश में राजा भोज यह बात सुनकर मुस्करा उठा। उसकी मुस्कान देखते ही कालिदास को भान हो गया कि वह ठगा गया। उसने तत्काल उक्त श्लोक को बदलकर कहा—

अद्य धारा सदाधारा, सदालम्बा सरस्वती ।

पंडिता मंडिताः सर्वे, भोजराजे भुवंगते ॥

बिछुड़े हुए दो मित्र मिल गए। भोज राजा कालिदास को साथ लेकर धारा लौट गए।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महाकवि कालिदास का उक्त पद्य मुझे याद आ रहा है। मैं राजा भोज के स्थान पर संयम को प्रतिष्ठित कर कहना चाहता हूँ कि संयम का आधार छूटने से पूरी मानव जाति निराधार हो गई है। मानवीय मूल्यों का सहारा छूट गया है और नीतिनिष्ठ लोगों का कोई संगठन नहीं रहा है। यदि मानवता को बचाना है, मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठा देनी है और सही अर्थ में मानव का निर्माण करना है तो संयम को पुनरुज्जीवन देना होगा। अणुव्रत का सारा प्रयत्न इसी दिशा में है। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि मानवता को संरक्षण देने वाला कोई तत्त्व है तो वह संयम है।

२२. सूरज पर धूल फेंकने से क्या?

महात्मा गांधी भारत के ऐसे व्यक्तित्व हुए हैं, जिनके प्रति प्रायः सभी भारतवासी हार्दिक श्रद्धा से प्रणत हैं। वे कोई गृहत्यागी संत नहीं थे, पर भारतीय संत परम्परा में उनके त्यागमय चरित्र की चमक देखी जा सकती है। इसी कारण कवीन्द्र रवीन्द्र ने उनको महात्मा कहकर सम्बोधित किया। उनकी तपस्या की कीर्तिगाथाएं दिगन्तों में अनुगुंजित हैं। वे भारतीय जनता के ही नहीं, विश्व-मानव के श्रद्धेय रहे हैं। लोकमंगल की प्रेरणा से प्रेरित उनके मानस में जातिवाद, वर्गवाद, सम्प्रदायवाद जैसा कोई विभाजन नहीं था। वे अस्पृश्यता के घोर विरोधी थे। समाज से सर्वथा अलग-थलग, दलित और अछूत कहलाने वाले लोगों को सवर्णों के साथ जोड़ने के लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया, काल की परतें उसे कभी आवृत नहीं कर सकतीं। मानवीय धरातल को उन्नत बनाने के लिए उन्होंने विश्व-बंधुत्व का सपना देखा। जाति आदि को लेकर मनुष्यों के बीच बढ़ती हुई दरार को पाटने के लिए उन्होंने कठिन संघर्ष का रास्ता अपनाया। इसी कारण वे महापुरुष, युगनायक और महान् द्रष्टा के रूप में अपनी पहचान छोड़ गए।

महात्मा गांधी प्रयोगवादी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रयोग किये। समाज और देश के लिए प्रयोग किये। दलित वर्ग के लिए 'हरिजन' शब्द का व्यवहार भी उनका एक प्रयोग था। वर्तमान युग की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि हर व्यक्ति, हर सिद्धांत और हर क्रिया-कलाप को राजनीति के रंग से रंगा जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी व्यक्ति के विचारों और प्रयोगों के साथ सबकी सहमति हो। हर व्यक्ति को सोचने की स्वतंत्रता है, पर इसका मतलब यह तो नहीं है कि किसी का चिन्तन हमारे चिन्तन से मेल न खाए तो उस पर कीचड़ उछाला जाये। अपनी

सूरज पर धूल फेंकने से क्या? : ४७

असहमति को शिष्ट भाषा में अभिव्यक्ति दी जा सकती है, पर गाली-गलौज पर उतर जाने का औचित्य क्या है?

किसी को सूरज के प्रकाश से ही घृणा हो तो वह अपनी आंखें बंद कर सकता है, किन्तु उस पर धूल फेंकने का परिणाम क्या होगा? इसी प्रकार किसी महापुरुष का कोई काम किसी को पसंद न आए तो वह उससे बड़ा काम करके दिखा दे। यदि बड़ी लकीर खींचने की क्षमता न हो तो छोटी लकीर को मिटाने से क्या लाभ होगा?

किसी पक्ष-प्रतिपक्ष में जाना हमें अभीष्ट नहीं है। किसी राजनीतिक दल विशेष से हमारा कोई संबंध भी नहीं है। यदि तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो कहना होगा कि महात्मा गांधी जैसे विरल व्यक्तित्व को लेकर इस प्रकार की छीछालेदर चिन्तन की दरिद्रता है। समझ में नहीं आता कि उनका अपराध क्या था? जिस युग में लोक-मंगल की भावना से किए गए कार्य का प्रतिवाद गाली-गलौज की भाषा में होता है, उस युग की बलिहारी है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह दुष्काल की दुष्टता ही है, जो किसी व्यक्ति को विवेक शून्य आचरण करने के लिए प्रेरित करता है। कोई कुछ भी करे, सूरज को हथेलियों से ढका नहीं जा सकता। गांधी के कर्तृत्व को कभी तिरोहित नहीं किया जा सकता।

२३. आस्था और विश्वास के प्रतीक

शब्दकोशों में पृथ्वी के पर्यायवाची शब्दा ग रत्नगभा, वसुन्धरा आदि नाम हैं। इन शब्दों पर विचार करते समय कभी-कभी मनु में आता कि जिस रूप में धरती का दोहन हो रहा है, रत्नों का अनुपात बहुत कम हो गया है। इस स्थिति में उक्त नामों की कोई सार्थकता है क्या? नररत्नों की खोज की जाए तो उनका अस्तित्व और भी कम है। क्या यह कोशकारों की अतिशयोक्ति नहीं है, जो ऐसे शब्दों को प्रचलित किया?

इस प्रश्न पर गंभीर चिन्तन का निष्कर्ष यह निकला कि रत्नों और कंकरोँ का अनुपात बराबर कैसे होगा? यदि इनका अनुपात बराबर निकल आए तो रत्नों का मूल्य ही क्या होगा? धरती रत्नगर्भा है, यह बात निर्विवाद है। इस धरती पर आभूषणों में जड़े जाने वाले रत्न ही नहीं, नररत्न भी मिलते हैं। मोरारजी रणछोड़दास भाई देसाई एक विशिष्ट नररत्न थे, जो अभी-अभी अपनी जीवनयात्रा सम्पन्न कर चले गए।

भारतीय इतिहास की बीसवीं शताब्दी में गांधी युग का प्रारम्भ नए उच्छ्वास के साथ हुआ। गांधीजी के दर्शन ने भारतीय लोकमानस को प्रभावित किया। उस समय की विशिष्ट प्रतिभाओं ने गांधीजी का अनुगमन किया। गांधीजी के एक आह्वान पर वे अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए कटिबद्ध रहे। उनका दृष्टिकोण बदला, कार्य-शैली बदली और सब कुछ बदल गया। पर उन व्यक्तियों में से अब कितने व्यक्ति अस्तित्व में हैं? अनेक दीखते व्यक्ति अस्ताचल की ओट में हो गए। मोरारजी भाई को गांधी युग का अवशेष माना जाता था, पर आज तो वे भी नाम-शेष हो गए। उनके साथ जुड़ी हुई स्मृतियों का रंग एक बार फिर हरा हो गया, जब उनके स्वर्गारोहण का संवाद सुना।

आस्था और विश्वास के प्रतीक : ४६

मोरारजी भाई का व्यक्तित्व कुछ विलक्षण अणुओं से घाटेत था। वे सिद्धान्तवादी, सक्रिय और सृजनचेता व्यक्ति थे। प्रवाह में बहना उन्हें कभी स्वीकार नहीं था। वे सत्यनिष्ठ और अहिंसावादी व्यक्ति थे। अहिंसा में उनकी अटूट आस्था थी। अहिंसानिष्ठ होने के कारण ही वे अभय थे। किसी भी परिस्थिति में उनकी चेतना भय के प्रकम्पनों से प्रभावित नहीं हुई। वे सुनते सबकी, पर करते अपनी अंतरात्मा की। उन्हें जो बात ठीक लगती, उसे वे करके ही रहते। इतनी वैचारिक दृढ़ता कम व्यक्तियों में मिलती है।

उनके बारे में कहा जाता था कि सूरज पूर्व दिशा को छोड़ पश्चिम दिशा में भले ही उग जाए, मोरारजी भाई को उनके निर्णय से विचलित नहीं किया जा सकता।

सत्य, अहिंसा, अभय आदि जीवन मूल्यों के प्रति समर्पित मोरारजी भाई अणुव्रत-दर्शन के पृष्ठपोषक रहे, इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। राजनीति के शिखर-पुरुषों में अणुव्रत विचारधारा को महत्त्व देने वाले व्यक्तियों की गणना की जाए तो मोरारजी भाई का नाम प्रथम पंक्ति में स्थापित किया जा सकता है। पार्थिव शरीर के रूप में उनकी उपस्थिति भले ही न हो, उनकी सत्यनिष्ठा और सिद्धान्तवादिता का अहसास उन सबको होता रहेगा, जिनसे उनका आन्तरिक परिचय रहा है। वे आस्था और विश्वास के एक ऐसे प्रतीक थे, जो न होकर भी सदा रहेंगे।

२४. आईने की टूट और घर की फूट

राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक या पारिवारिक काइ भा सगठन टूटता है तो उसका असर पूरे देश पर ही नहीं, पूरे विश्व पर होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यह बात समझ में आने वाली नहीं है। पर इकोलॉजी को समझने वाले जानते हैं कि घटना कहीं भी हो, उसके प्रकम्पन सब जगह पहुंच जाते हैं। जो संगठन देश में अपना व्यापक प्रभाव रखता हो, उसमें कहीं दरार भी पड़ती है तो अच्छी उथल-पुथल मच जाती है। भारतीय राजनीति के आकाश में संभवतः किसी ऐसे ही कुग्रह का उदय हुआ है, जो राजनीतिक दलों को आक्षेप-प्रक्षेप और टूटन के कगार पर ले जा रहा है।

मैं एक मानव हूँ। इससे भी आगे कुछ कहूँ तो धर्म का आदमी हूँ। किसी भी राजनीतिक पार्टी के साथ मेरा अपनापा नहीं है। पर किसी पार्टी में तूफान आता है तो मैं प्रभावित होता हूँ। तूफान की गति तीव्र होती है तो कभी-कभी मैं विचलित भी होता हूँ। विचलित होने का अर्थ यह नहीं है कि मैं किसी पक्ष-प्रतिपक्ष से बंध जाता हूँ। विचलन का अर्थ इतना-सा है कि मैं उस समय सर्वथा निरपेक्ष न रहकर स्थिति को सामान्य बनाने के लिए उसमें हस्तक्षेप कर बैठता हूँ। राजनीति के शिखर-पुरुष या संबद्ध व्यक्ति उसे किस रूप में लेते हैं, मैं नहीं जानता। राष्ट्रीय चरित्र की छवि साफ-सुथरी रहे, एकमात्र इसी प्रेरणा से मैं अपना चिन्तन देता हूँ।

विगत कुछ अर्से से देश में सबसे पुरानी पार्टी कांग्रेस अन्तर्-कलह की शिकार हो रही है। यह स्थिति प्रथम बार ही निर्मित नहीं हुई है। इस पार्टी के कुछ वरिष्ठ नेता किन्हीं कारणों से पार्टी से दूर हो गए या कर दिए गए। उनका गठबन्धन पार्टी के असन्तुष्ट लोगों के साथ हो गया, ऐसा कहा जाता है। यह असंतुष्ट शब्द भी समालोच्य है। एक ही पार्टी में रहने वाले

अनेक लोगों में विचारभेद हो सकता है, पर उसे लेकर आपस में हान वाला खींचातानी से किसका हित होगा ? ऐसा प्रतीत होता है कि विग्रह में उलझने वाले लोग वैयक्तिक दृष्टि से अधिक सोचते हैं और राष्ट्रीय परिदृश्य पर पर्दा डाल देते हैं। अन्यथा एक ही संस्था के लोग मुद्दों की संस्कृति में कैसे उलझते ?

कांग्रेस पार्टी में आज भी कुछ अच्छे व्यक्ति मिल सकते हैं। पर वैचारिक आग्रह की स्थिति में उनकी सुने कौन ? इसी कारण कहीं प्रधानमंत्री से इस्तीफा मांगा जा रहा है और कहीं एकता के मुद्दे पर सत्ता पाने की राजनीति का विरोध हो रहा है। संसदीय शासन-प्रणाली में अलग-अलग राजनीतिक दल पक्ष और प्रतिपक्ष की भूमिका से काम करते हैं। किन्तु एक ही पार्टी में हो रहा फूट-फजीता 'घर में हानि और लोगों में उपहास' वाली कहावत चरितार्थ कर रहा है। कोई भी सच्चा कांग्रेसी इस घर की फूट को कैसे सहन कर सकता है ?

पिता की मृत्यु के बाद दो भाइयों ने जमीन, जायदाद और घर की संपत्ति का बंटवारा किया। सारा काम प्रेम से हो गया। घर में एक आदमकट आईना था। उसे लेकर दोनों भाई अड़ गए। एक आईना दोनों को कैसे मिल सकता था। दोनों के आग्रह इतने प्रबल थे कि टूटन के बिन्दु तक पहुंच गए। उसी समय उनके पिता का मित्र और पुराना मुनीम वहां आ गया। समझौते का दायित्व उसे सौंपा गया। उसने आईना हाथों में लिया, उसे ऊपर उठाया और धम्म से गिरा दिया। दोनों भाई निर्वाक हो गए। दो क्षण बाद वे बोले—'आपने यह क्या किया ? कीमती आईना टूट गया।' पिता के मित्र ने कहा—'मैं आईने की टूट देख सकता हूं, पर इस घर की फूट नहीं देख सकता।' काश ! कांग्रेस जनों को भी ऐसा प्रतिबोध मिले।

२५. व्यक्ति और विश्व

आजकल कुछ व्यक्ति विश्वव्यवस्था, विश्वधर्म, विश्वहित, विश्वविकास और वैश्विक चिंतन की बात करते हैं। कुछ व्यक्ति पूरी तरह से आत्मकेन्द्रित होते हैं। वे विश्व के बारे में क्या अपने देश, समाज, गांव, पड़ोस या परिवार की दृष्टि से भी कुछ सोचने या करने के लिए तैयार नहीं हैं। मेरा चिंतन यह है कि मनुष्य की दृष्टि अनेकान्त-प्रधान होनी चाहिए। विश्व और व्यक्ति के बारे में विचार किया जाये तो इन दोनों को सापेक्ष मान कर ही सोचना जरूरी है। व्यक्ति को भुलाकर विश्व को नहीं बनाया जा सकता और विश्व के बिना व्यक्ति की अस्मिता को प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। मकान के निर्माण में ईंटों का उपयोग होता है, पर केवल ईंटें क्या करेंगी? ईंटों के साथ अन्य सामग्री की भी अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार व्यक्ति और समष्टि दोनों के समुचित विकास से ही सर्वांगीण विकास संभव है।

व्यक्ति विश्व में सन्निहित है। वह अकेला रह नहीं सकता, अकेला जी नहीं सकता। ऐसी स्थिति में चिंतन की यात्रा व्यक्ति से शुरू होकर विश्व तक पहुंचे, यह सही क्रम है। भोजन से थाली भरी है। पूरी थाली एक साथ नहीं खाई जा सकती। व्यक्ति किनारे से चले तो पेट पूरा भर सकता है। चाणक्य एक बुढ़िया के घर पहुंचा। भूख लगी थी। बुढ़िया ने थाली भर कर खिचड़ी परोसी। चाणक्य ने बीच में हाथ डाला। हाथ जल गया। बुढ़िया ने चाणक्य को पहचाना नहीं था। उसने उसको साधारण राहगीर समझकर कहा—‘तुम चाणक्य की तरह मूर्ख हो।’ चाणक्य चौंका। उसने पूछा—‘मां ! चाणक्य ने क्या मूर्खता की? बुढ़िया बोली—‘उसने आसपास के छोटे राज्यों को जीते बिना सीधा पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया, इसीलिए उसे पराजित होना पड़ा। तुम भी किनारे से थोड़ी-थोड़ी खिचड़ी खाते तो तुम्हारा हाथ

व्यक्ति और विश्व : ५३

नहीं जलता। सीधा बोच में हाथ डालना बुद्धिमत्ता है क्या?

विश्व धर्म की कल्पना भी गलत नहीं है, पर उसके स्वरूप को ठीक तरह से समझना होगा। धर्म के दो रूप हैं—उपासना और आचरण। उपासना धर्म कभी विश्वधर्म नहीं बन सकता। आस्था और रुचि के भेद से उपासना के अनेक भेद हो सकते हैं। आचरण की बात पर सबकी सहमति संभव हो सकती है। जीवन-निर्माण या चरित्र-निर्माण की कुछ ऐसी बातें हैं जो पूरे विश्व पर एक रूप में लागू हो सकती हैं। उनका संकलन कर उन्हें निर्विशेषण धर्म के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो विश्वधर्म का स्वरूप उजागर हो सकता है। उस धर्म को कोई विशेषण देना ही हो तो मानवधर्म—यह विशेषण दिया जा सकता है। मैत्री एक आचरण है, संयम एक आचरण है अहिंसा एक आचरण है। इनमें रुचि, आस्था, संस्कार या विचार का क्या भेद हो सकता है? इन तत्त्वों का संबंध सब लोगों से है। कोई व्यक्ति धर्म को माने या नहीं, मैत्री आदि को अमान्य नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में विश्वधर्म की कल्पना सहज ही साकार हो सकती है।

व्यक्ति और विश्व में अन्तर क्या है? व्यक्ति धागा है और विश्व वस्त्र है। व्यक्ति मनका है और विश्व माला है। दोनों का योग होता है। फिर भी वस्त्र-निर्माण से पहले धागे के अस्तित्व और उसकी गुणवत्ता पर ध्यान देना होगा। विश्वधर्म की प्रकल्पना में भी मूलतः व्यक्ति को पकड़ना जरूरी है। व्यक्ति-व्यक्ति धार्मिक या आध्यात्मिक बनेगा तो अधर्म को टिकने के लिए जमीन नहीं मिलेगी। मेरे अभिमत से अणुव्रत के सिद्धान्त ऐसे हैं, जो विश्वधर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। अपनी लम्बी पदयात्राओं और व्यापक जनसंपर्क में मुझे एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला, जिसने सिद्धान्ततः अणुव्रत को अस्वीकार किया हो। इसलिए आज अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्ति-व्यक्ति को चरित्रनिष्ठ या धार्मिक बनाकर विश्वधर्म की पृष्ठभूमि को मजबूत बनाया जाए।

५४ : दीये से दीया जले

२६. अणुव्रत परिवार योजना

वर्तमान जीवन-शैली ने संयुक्त परिवार की प्रथा को तोड़ा है और एकल परिवारों की संस्कृति को जन्म दिया है। जब से गांवों का शहरों की ओर पलायन शुरू हुआ है, सम्बन्धों का धरातल खिसकता हुआ प्रतीत हो रहा है। पारिवारिक रिश्तों में लिजलिजापन आता जा रहा है। शिक्षा, व्यवसाय, आवास आदि की समस्याओं ने भी बड़े परिवारों के आगे प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया। एकल परिवारों में संस्कार, संस्कृति और परम्पराओं की विरासत छिन्न-भिन्न हो रही है। इस त्रासदी का अनुभव बहुत लोग कर रहे हैं। किन्तु इसे समाप्त करने की प्रक्रिया हाथों से निकल गयी है। इसी कारण भारतीय संस्कृति, सभ्यता और परिवेश का स्वरूप बदल गया है।

वर्तमान युग का ढांचा उपभोक्ता मूल्यों वाली संस्कृति के आधार पर टिका है। इस युग की जीवन-शैली ने आवश्यकताओं पर आकांक्षाओं का लबादा डाल दिया है। आवश्यकता और आकांक्षा के बीच कोई भेदरेखा न होने से आम आदमी दिग्भ्रान्त बन रहा है। उसके जीवन में संयम या व्रत की चेतना क्षीण से क्षीणतर हो रही है। ऐसी स्थिति में किसी ऐसे अभियान या अनुष्ठान की अपेक्षा है, जो जन-जन के मन में सोयी हुई व्रत-चेतना को जगा सके। अणुव्रत आन्दोलन इस अपेक्षा की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

व्यक्ति सुधार समाज सुधार की बुनियाद है, इस अवधारणा के आधार पर अणुव्रत ने एक-एक व्यक्ति की चेतना को झकझोरा। अणुव्रत मिशन को लोक-व्यापी बनाने के लिए देश भर में पदयात्राएं की गईं। लगभग चार दशकों का समय। सैकड़ों साधु-साध्वियों, समण-समणियों और अणुव्रती

अणुव्रत परिवार योजना : ५५

कार्यकर्ताओं का पुरुषार्थ। देश के हर कोने में अणुव्रत को गूँज। विदेशों वायुमण्डल में अणुव्रत के प्रकम्पनों की सक्रियता। फिर भी अणुव्रती लोगों का ऐसा कोई मंच, संगठन या समूह नहीं बन पाया, जो एकसूत्र में बंधा हुआ हो। अणुव्रत परिवार योजना इस रिक्तता को भरने का एक ऐसा उपक्रम है, जो 'दीये से दीया जले' कहावत के अनुसार व्यक्ति से उभरी हुई नैतिक शक्ति को पूरे परिवार में संप्रेषित कर सकेगा।

अणुव्रत परिवार कोई आन्दोलन नहीं है, घोषणापत्र नहीं है और कोई शो-पीस भी नहीं है। अणुव्रत परिवार की अपनी जीवन-शैली होगी। इस परिवार का एक सदस्य जो प्रबुद्ध हो, चिंतनशील हो और विवेक संपन्न हो, संकल्पित होकर अणुव्रती बने। उसकी मनोवृत्ति में हिंसा और आक्रमण को स्थान नहीं रहेगा। वह तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियों में अपनी भागीदारी नहीं रखेगा। वह जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को छोटा-बड़ा नहीं मानेगा। सांप्रदायिक उत्तेजना फैलाने में उसका विश्वास नहीं होगा। वह अपनी व्यावसायिक प्रामाणिकता पर आंच नहीं आने देगा। वह ब्रह्मचर्य की साधना के प्रयोग करेगा और संग्रह की सीमा का निर्धारण करेगा। चुनाव संबंधी अनैतिक आचरण नहीं करेगा। सामाजिक कुरूपियों को प्रश्रय नहीं देगा। व्यसनमुक्त रहेगा और पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहेगा।

मानवीय मूल्यों की इस न्यूनतम आचार-संहिता का पालन करने वाला व्यक्ति अणुव्रती होता है। इस आचार-संहिता में अपने परिवार को ढालने का संकल्प और पारिवारिक सदस्यों में कुछ व्रतों के प्रति आस्था जगाने वाला व्यक्ति अणुव्रत परिवार योजना का सदस्य बन सकता है। अखिल भारतीय अणुव्रत समिति ने अणुव्रत परिवार योजना के फोल्डर तैयार कर प्रसारित करने शुरू कर दिये हैं। अणुव्रत के प्रति निष्ठाशील लोगों का दायित्व है कि वे इस फोल्डर को पढ़ें, योजना को समझें और उसकी क्रियान्विति में अपना सक्रिय योगदान करें।

'अणुव्रत परिवार' अणुव्रत के आदर्शों की दुहाई नहीं देंगे, उन्हें जीयेंगे। इसलिए हजारों-हजारों लोगों के आंकड़ों को छोड़कर चयनित परिवारों में इसका प्रयोग किया जाये। यदि हम एक हजार परिवारों को अणुव्रत

परिवार योजना के साथ जोड़ सकें और उनमें परस्पर भ्रातृत्वभाव जगा सकें तो एक सामूहिक नैतिक शक्ति का उदय अवश्यंभावी है। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि अणुव्रत परिवार योजना आगे बढ़ेगी और सुखद परिणाम के साथ मानव जाति की आशाओं व अपेक्षाओं को पूरा करेगी।

अणुव्रत परिवार योजना : ५७

२७. काश ! दीवारें ढहें

हर व्यक्ति का अपना चरित्र होता है। व्यक्ति को भांते प्रत्येक समाज और राष्ट्र का भी अपना चरित्र होता है। आज की कठिनाई यह है कि व्यक्ति अपने चरित्र के प्रति जागरूक नहीं है। जागरूकता से पहला तत्त्व है आस्था। जिस विषय में व्यक्ति की आस्था ही न हो, उसके बारे में जागरूकता कहां से आएगी? एक समय था, व्यक्ति अपने चरित्र को सर्वोपरि महत्त्व देता था। किसी के चरित्र पर अंगुली उठाना मृत्यु से भी अधिक कष्टप्रद माना जाता था। इसलिए व्यक्ति किसी भी मूल्य पर अपनी चारित्रिक उज्ज्वलता को धूमिल नहीं होने देता था। वर्तमान की स्थिति विपरीत है। इस युग में व्यक्ति की ऊंचाई का मानक उसका चरित्र नहीं, अर्थबल और सत्ताबल है। सत्ता पाने के लिए अनुचित तरीकों से अर्थ का संग्रह और उपयोग होता रहता है। कोई टी. एन. शेषन जैसा व्यक्ति अनुशासन, चरित्र या ईमानदारी की बात करता है तो उसके खिलाफ सामूहिक मोर्चा लेने की तैयारी की जाती है। क्या यही है भारत का राष्ट्रीय चरित्र!

अणुव्रत चरित्र निर्माण का आन्दोलन है। यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र—सबके चरित्र की चिन्ता करता है। इसका विश्वास है कि व्यक्ति के चरित्र से समाज का चरित्र बनता है और समाज का चरित्र राष्ट्रीय चरित्र के लिए आधार-शिला का काम करता है। व्यक्ति और समाज के बिना राष्ट्र की अस्मिता क्या है? इस दृष्टि से राष्ट्रीय चरित्र को अलग रूप से व्याख्यायित करने की अपेक्षा नहीं है। पर व्यक्ति की बदली हुई आत्मकेन्द्रितता उसे समूह का हिस्सा नहीं बनने दे रही है। ऐसी स्थिति में उसके आधार पर राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण नहीं हो सकता। अणुव्रत का अपना दर्शन है और अपना कार्यक्रम है। इस बार की अणुव्रत यात्रा का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय

५८ : दीये से दीया जले

चरित्र को गतिशील बनाना है। राष्ट्रीय चरित्र को धूमिल करने वाले अनेक मुद्दे हैं। उनमें से प्रमुख पांच मुद्दों को सामने रखकर इस यात्रा का कार्यक्रम निर्धारित किया गया है।

मनुष्य को बांटने की मनोवृत्ति राष्ट्रीय चरित्र की एक प्रमुख समस्या है। आर्थिक असन्तुलन, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, रंगभेद की मानसिकता आदि ऐसी बातें हैं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई चौड़ी कर रही हैं। एक ओर बहुमंजिली अट्टालिकाएं, दूसरी ओर झुग्गी-झोंपड़ियां। एक ओर शिखर पर आरोहण कर रही विलासिता, दूसरी ओर भिखारीपन। दूरी कम कैसे होगी? जातिवाद के नाग फन फैलाये खड़े हैं। धर्म को सम्प्रदायवाद के घेरे में बंदी बना दिया गया है। परस्पर घृणा और नफरत की भावना फैलती जा रही है। साम्प्रदायिक उन्माद किसी बम विस्फोट से कम भयावह नहीं होता। रंगभेद की नीति ने दक्षिण अफ्रीका के नवनिर्वाचित राष्ट्रपति नेल्सन मंडेला को सत्ताईस वर्षों तक जेल में रहने के लिए विवश कर दिया। यह सब क्या है? क्या मानवीय दृष्टि से इनमें से किसी को भी कोई मूल्य दिया जा सकता है? इन्हें मूल्य देने की बात पर सिद्धान्ततः कोई सहमत हो या नहीं, पर इनके कसते हुए शिकंजे को ढीला करने के लिए प्रयत्न करने वाले व्यक्ति कितने हैं?

अणुव्रत की आस्था भाईचारे की भावना में है। वह राष्ट्र, प्रान्त, भाषा, धर्म, जाति, रंग, लिंग आदि के कारण आदमी को तोड़ता नहीं। वह विभिन्नता में एकता की बात करता है। वह कहता है कि यदि मनुष्य शेष मनुष्यों को अपना भाई माने तो वह अपनी ओर से किसी को कष्ट नहीं दे सकता। कष्ट देना तो बहुत आगे की बात है, वह किसी का कष्ट देख भी नहीं सकता। किसी की हत्या नहीं कर सकता। जाति के आधार पर किसी को ऊंचा या नीचा नहीं मान सकता। किसी को अछूत नहीं मान सकता। सम्प्रदायवाद का विष नहीं फैला सकता।

अणुव्रत भाईचारे की बुनियाद पर खड़ा है। वह विश्व मानव को भ्रातृभाव और साम्प्रदायिक सौहार्द की सीख दे रहा है। काश! दीवारें ढहें। खाइयां पटें। भ्रातियां मिटें। महत्त्वाकांक्षाएं रुकें और भाई-भाई गले मिलकर मानव मात्र को भाईचारे का सबक सिखाए।

काश ! दीवारें ढहें : ५६

२८. भाईचारे की मिशाल

६ दिसंबर १९६२ को अयोध्या में विवादास्पद ढांचे को कुछ लोगों ने ध्वस्त कर दिया। इस घटना ने मन्दिर-मस्जिद मसले को लेकर लगी वैचारिक आग में आहुति का काम किया। आग फैले नहीं, यह लक्ष्य सबके सामने था। लोगों ने संयम से काम लिया। मानसिक विद्रोह के बावजूद स्थिति नियंत्रण में रही। सरकार के सामने बहुत जटिल स्थिति थी। राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद १४३(१) के तहत मामला उच्चतम न्यायालय को भेजा था। मामला बेहद संवेदनशील था। उस पर कोई कदम उठाने से पहले सरकार ने न्यायालय से राय लेना उचित समझा। न्यायालय में मामला पहुंचने के बाद विवाद से सम्बन्धित दोनों पक्ष और सरकार उक्त सन्दर्भ में किसी निर्णय पर पहुंचने की स्थिति में नहीं थी। बेसब्री से न्यायालय के निर्णय की प्रतीक्षा की जा रही थी। अखिर २५ अक्टूबर १९६४ को मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति एम. एन. वैकटचलैया ने न्यायालय का फैसला सुना दिया। उससे सरकार की परेशानी कम नहीं हुई। क्योंकि उच्चतम न्यायालय से जिस विषय में राय मांगी गई थी, उसने राय देने से ही इन्कार कर दिया। बात घूम-फिरकर पुनः सरकार पर आ गई।

सरकार प्रस्तुत विवाद के सन्दर्भ में क्या करेगी, यह हमारी रुचि का विषय नहीं है। यह विषय पूरे देश के लिए सिरदर्द बना हुआ है। यह सिरदर्द कैसे दूर हो, हमारी रुचि इस बात में है। इतने बड़े राष्ट्र में इतनी छोटी-छोटी बातें इस प्रकार सिरदर्द बन जाएं, यह शोभनीय स्थिति नहीं है। हमारा चिन्तन यह है कि ऐसी समस्या न कानून से सुलझ सकती है, न कोर्ट से सुलझ सकती है और न सरकार से सुलझ सकती है। इसके लिए आवश्यक है

६० : दीये से दीया जले

अनेकान्त दृष्टि का उपयोग ।

कोई भी विषय विवादास्पद बनता है तो उसमें पक्ष और प्रतिपक्ष खड़े हो जाते हैं। बिजली पैदा करने के लिए पोजिटिव और नेगेटिव—दोनों प्रकार के तार आवश्यक होते हैं। विवाद को खड़ा रखने के लिए भी पक्ष और प्रतिपक्ष की जरूरत रहती है। किसी भी विवाद को हिंसात्मक मोड़ देना बुद्धिमानी की बात नहीं है। मनुष्य का विवेक और बुद्धिमत्ता इसमें है कि ऐसे प्रसंगों पर सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न हो। भगवान् महावीर ने इस प्रकार की समस्याओं को समाहित करने में अनेकान्त का उपयोग किया था। इसमें जय-पराजय की भावना नहीं रहती। किसी को ऊंचा या नीचा दिखाने का लक्ष्य नहीं रहता। किसी को सम्मानित या अपमानित करने की स्थिति नहीं आती। दृष्टिकोण स्पष्ट हो, दिशा सही हो और समस्या का समाधान करने की तड़प ही तो अनेकान्त से बढ़कर कोई मार्ग हो ही नहीं सकता।

हिन्दू और मुस्लिम दो कौम हैं। इनको आमने-सामने खड़े होने की अपेक्षा ही क्यों हो? देश में और भी तो अनेक कौम हैं। प्रत्येक कौम को रहने का अधिकार है। सब कौमों के लोगों में सामंजस्य और सहअस्तित्व की भावना हो तो कौमी झगड़ों को जमीन ही नहीं मिलेगी। सामंजस्य तभी हो सकता है जब एक-दूसरे की भावना का आदर हो, एक-दूसरे की परम्पराओं का आदर हो और उपासना के केन्द्रों को संघर्ष के केन्द्र न बनाया जाए। हिन्दू और मुस्लिम एक ही धरती पर जनमे और पले-पुसे हैं। वे भाई-भाई की तरह रहते आए हैं।

हैदराबाद से २७५ किलोमीटर दूर गुलबर्गा जिले के टिनटिनी गांव में उन्होंने भाईचारे की अद्भुत मिशाल कायम की है। वहां वे एक ही सन्त को एक ही पूजास्थल पर पूजते आए हैं। हिन्दू लोग उस सन्त की पहचान मोनेश्वर बाबा के नाम से करते हैं और मुसलमान उसे मोनापैय्या कहकर पुकारते हैं। कहा जाता है कि सन्त मूलतः हिन्दू थे। बाद में वे सूफी मत की ओर आकृष्ट हो गए। इस कारण दोनों कौमों के लोग उनके प्रति पूज्यभाव रखने लगे। क्या अयोध्या में एक ही प्रतीक को हिन्दू और मुसलमान दोनों मान्यता नहीं दे सकते?

हिन्दू लोग महावीर को मानते हैं। हमारे मुस्लिम भाइयों में भी अनेक

भाईचारे की मिशाल : ६१

व्यक्ति उदार दृष्टिकोण वाले हैं। वे महावीर की अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार कर लें तो संघर्ष की जड़ें कट सकती हैं। तोड़फोड़ का जहां तक प्रश्न है, वह न तो महावीर की दृष्टि में मान्य रही है और न मानवतावादी दृष्टि से भी मान्य हो सकती है। हिन्दू लोग तोड़फोड़ को गलत मानें और मुसलमान हिन्दू कौम को बड़े भाई के स्थान पर स्वीकार कर संघर्ष के मार्ग से हट जाएं तो हिन्दू और मुसलमानों के बीच पनप रहा विरोधाभास समाप्त हो सकता है, ऐसा विश्वास है।

२६. तीन चीजें बाजार में नहीं मिलतीं

केन्द्रीय योजना मंत्री श्री गोमांग 'अध्यात्म-साधना-केन्द्र' में आए। वहां के वातावरण ने उनको प्रभावित किया। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा—'बाजार में सब चीजें मिल जाती हैं, पर तीन चीजें नहीं मिलतीं।' यह बात सुन सामान्यतः पहली प्रतिक्रिया यही होती है कि विश्व की मुक्त बाजार व्यवस्था और आयात-निर्यात के सुविधाजनक साधनों ने संसार को छोटा कर दिया। प्राचीन काल में कुत्रिकापण की व्यवस्था थी। वहां स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक की सब वस्तुएं उपलब्ध रहती थीं। वर्तमान में संचार-साधन इतने तीव्रगामी हो गए कि विश्व के किसी कोने से कोई भी चीज कहीं पहुंच सकती है। ऐसी स्थिति में श्री गोमांग का कथन विमर्श मांगता है। उनके कथन का क्या अभिप्राय है? इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए उन्होंने कहा—सेल्फ कान्फिडेंस—आत्मविश्वास, करेज—साहस और करेक्टर—चरित्र ये वस्तुएं किसी बाजार में नहीं मिलतीं। किन्तु इस अध्यात्म-साधना केन्द्र में मिल सकती हैं।

छतरपुर रोड, महरोली में स्थित अध्यात्म साधना केन्द्र इन दिनों अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान—इस त्रिमूर्ति की चर्चा का प्रमुख केन्द्र बन रहा है। अणुव्रत मानवीय आचार-संहिता है। मनुष्य को कैसा होना चाहिए? इसका एक समग्र मॉडल है अणुव्रत। अच्छा मनुष्य बना जा सकता है, अच्छा जीवन जिया जा सकता है, यह आत्मविश्वास जगाने वाली एक मूर्ति है अणुव्रत।

मनुष्य में आत्मविश्वास हो, पर साहस न हो तो वह प्रतिस्रोत में नहीं चल सकता। आज जिस गति से नैतिक मूल्यों का क्षरण हो रहा है, मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयास करना बहुत बड़े साहस की बात है। प्रेक्षाध्यान

तीन चीजें बाजार में नहीं मिलतीं : ६३

के अभ्यास से व्यक्ति का खोया हुआ साहस जाग उठता है। इसलिए अणुव्रत का प्रशिक्षण पाने के बाद ध्यान शिविर में बैठना आवश्यक है। ध्यान से संकल्पशक्ति पुष्ट होती है, स्वभाव में परिवर्तन आता है और प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने का साहस बढ़ता है।

करेक्टर—चरित्र का सीधा सम्बन्ध शिक्षा के साथ है। शिक्षा का प्रभाव व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व—सबके चरित्र पर होता है। भारत एक बहुत बड़ा लोकतांत्रिक राष्ट्र है। राष्ट्र को स्वतंत्र हुए आधी शताब्दी पूरी होने वाली है। इतनी लम्बी अवधि में भी राष्ट्र की शिक्षा-नीति सर्वांगीण नहीं बन पाई है। चरित्रहीनता की त्रासदी इस अपर्याप्त शिक्षानीति की देन है। यदि शिक्षा में चरित्र को सर्वोपरि स्थान उपलब्ध होता तो भारतवर्ष विश्व का आध्यात्मिक गुरु होने का गौरव सुरक्षित रख पाता। शिक्षा के क्षेत्र में एक नया आयाम है जीवन विज्ञान, जो चरित्र-निर्माण की नई संभावनाओं का प्रतीक है।

सेल्फकान्फिडेंस, करेज और करेक्टर पाने के लिए सब लोगों को अध्यात्म-साधना-केन्द्र में आना ही होगा, ऐसी कोई प्रतिबद्धता नहीं है। जहाँ कहीं अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान का प्रशिक्षण मिलेगा, वहीं अध्यात्म साधना केन्द्र निर्मित हो जायेगा। सूरज को उदित होने के लिए पूर्व दिशा खोजने की अपेक्षा नहीं रहती। वह जिस दिशा में उदित होता है, वही दिशा प्राची बन जाती है—‘उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा’।

३०. चयन एक सहायक का

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन। राज्य कार्य का विस्तार हुआ। उन्हें अपने कार्य में सहयोग के लिए एक सहायक की अपेक्षा हुई। सहायक का चयन करने के लिए उन्होंने विशेष प्रक्रिया अपनाई। उन्होंने राजपुरुष के द्वारा घोषणा कराकर उन व्यक्तियों को आमंत्रित किया, जो एक राष्ट्रपति का सहायक बनने की अर्हता रखते थे।

राष्ट्रपति ऊंचे सिंहासन पर आसीन थे। आमंत्रित व्यक्ति एक-एक कर आ रहे थे। रास्ते में एक पुस्तक पड़ी थी। आने वाले व्यक्ति राष्ट्रपति की ओर देख रहे थे। पुस्तक पर उनकी नजर नहीं थी। किसी का पांव पुस्तक पर टिक रहा था, किसी के पांव से उछली हुई धूल पुस्तक पर गिर रही थी और किसी के पादप्रहार से पुस्तक के पन्ने फट रहे थे। राष्ट्रपति उन सबकी गति पर नजर टिकाए बैठे थे। सभी प्रत्याशी उनका अभिवादन कर आगे बढ़ गए। राष्ट्रपति ने किसी के साथ कोई बात नहीं की।

आमंत्रित व्यक्तियों में एक ऐसा व्यक्ति था, जो अवस्था से छोटा और अनुभवों से भी छोटा लगता था। उसने मार्ग में गिरी हुई पुस्तक देखी। वह एक क्षण रुका। उसने पुस्तक उठाई, उसकी मिट्टी झाड़ी और उसे सहेज कर किनारे रखी हुई स्टूल पर रख दिया। सधी हुई गति से चलता हुआ राष्ट्रपति के सामने पहुंचा। राष्ट्रपति का अभिवादन कर वह आगे बढ़ने लगा। उसी समय राष्ट्रपति बोले—‘मैंने अपने सहायक का चयन कर लिया।’ किसका चयन? कैसे चयन? कब हुआ चयन? एक साथ अनेक फुसफुसाहटें वायुमण्डल में थिरक उठीं।

राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने गंभीर मुद्रा में कहा—‘एक ऐसा व्यक्ति जिससे मैं पूरा परिचित नहीं हूं, उसे अपना सहायक घोषित करता हूं। उसके

चयन एक सहायक का : ६५

पास उपाधियां नहीं हैं, प्रमाणपत्र नहीं हैं और वह कोई बड़ा आदमी भी नहीं है। फिर भी वह मेरी कसौटियों पर खरा उतरा है।' एक व्यक्ति, जो देखने में बहुत रोबदार दिखाई दे रहा था, कुछ आगे बढ़ कर बोला—'आपने हमारी इज्जत मिट्टी में मिला दी। आपको ऐसे छोकरे की जरूरत थी तो इतने बड़े लोगों को बुलाया क्यों? क्या हमारी उपाधियों एवं पदवियों का कोई मूल्य नहीं है? राष्ट्रपति ने कहा—'महोदय ! मुझे आपके प्रमाणपत्रों की जरूरत नहीं है। आपकी योग्यता का सबसे बड़ा या सीधा प्रमाणपत्र है आपका व्यवहार। आपने एक पुस्तक को अपने पैरों तले कैसे रौंद डाला? क्या यही है आपकी दक्षता? जो अधिकारी एक पुस्तक को संभाल कर नहीं रख सकता, वह मेरे कागजात कैसे संभाल पायेगा?

अणुव्रत कहता है—कोई व्यक्ति पूजा-पाठ करे या नहीं, दान-पुण्य करे या नहीं, धर्म का उपदेश करे या नहीं, पर अपना व्यवहार शुद्ध रखे, नैतिकता को आधार मानकर चले, मानवता को सुरक्षित रखे, वह सही अर्थ में मानव कहलाने का अधिकारी है। व्यक्ति का मूल्य सत्ता और संपदा के आधार पर नहीं, डिग्रियों और सर्टिफिकेटों पर नहीं, उन्नत आचरण के आधार पर आंका जाता है। मनुष्य का चरित्र समाज और राष्ट्र के चरित्र का दर्पण होता है। वह जितना निर्मल होगा, समाज और राष्ट्र का प्रतिबिम्ब उतना ही साफ होगा। अणुव्रत की प्रेरणा चरित्र-निर्माण की प्रेरणा है। चरित्र का दीया जलता रहेगा तो अनैतिकता के अन्धकार को विदा लेनी ही होगी।

३१. समस्या संग्रह और असीम भोग की

भारत के स्वर्गीय युवा प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश की तैयारी पर अतिरिक्त बल दिया था। उनके युग में इस विषय पर बहुत चर्चा हुई। उनके जाने के बाद उस चर्चा के स्वर मन्द हो गए। जैसे हर विषय को कई पहलुओं से देखा जाता है। उस पर चिन्तन के कोण भी विविध हैं। व्यक्ति हो, वस्तु हो या कोई विषय, एक ही कोण से देखना और सोचना अधूरापन है। भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टिकोण का प्रतिपादन कर सत्य तक पहुंचने के अनन्त द्वार खोल दिए। प्रत्येक द्वार तक किसी की पहुंच हो या नहीं, पर जब सामने अनेक द्वार हों तो किसी एक ही द्वार पर दस्तक देकर विराम क्यों लिया जाए?

कुछ लोग आधुनिक विज्ञान और नई तकनीक के साथ इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश करने के इच्छुक हैं। अपना-अपना चिन्तन और अपनी-अपनी धारणाएं। एक दृष्टि से मनुष्य को विज्ञान और टेक्नोलॉजी ने बहुत सुविधाएं दी हैं। मनुष्य की मनोवृत्ति सुविधाओं के सांचे में ढलती जा रही है। उसका जीवन यांत्रिकता की ओर अग्रसर हो रहा है। आवश्यकता और अनावश्यकता के बीच भेदरेखा किए बिना वह हर वैज्ञानिक सुविधा को स्वीकार करता जा रहा है। उसके गुण-दोषों पर विमर्श करने का समय भी उसके पास नहीं है। ऐसी स्थिति में वह आने वाली सदी में विकसित साइन्स और उन्नत टेक्नोलॉजी का सपना देखे तो आश्चर्य जैसा कुछ भी नहीं है।

साइन्स और टेक्नोलॉजी का विरोध हमारा लक्ष्य नहीं है। इनका विरोध वे करते हैं, जो एकांगी दृष्टि से सोचते हैं। इनकी धज्जियां वे उड़ाते हैं, जो नितान्त कट्टरपंथी हैं। इस सन्दर्भ में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया जाए तो विज्ञान के वैशिष्ट्य को खुले मन से स्वीकार करने वाले भी इसके नेगेटिव

समस्या संग्रह और असीम भोग की : ६७

पक्ष को आंखों से ओझल नहीं रख पाएंगे। वैज्ञानिक उपलब्धियों का बढ़ चढ़कर गौरव गाने वाले वैज्ञानिक ही एक समय के बाद उनसे होने वाले दुष्प्रभावों के प्रति जनता को आगाह करते हैं। फ्रिज, टी. वी., ए. सी., डिब्बा-बंद भोजन आदि सुविधाओं के जितने साधन हैं, उन सबके दुष्परिणामों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण मुखर हो रहा है। जो विज्ञान आज मनुष्य के लिए सुख-सुविधा का दावा करे, कल वही उसका प्रतिरोध करे, उस विज्ञान का विश्वास कैसे किया जा सकता है?

जिन वैज्ञानिक उपकरणों ने आदमी को अपंगता की दिशा में ढकेला है, जिनके कारण उसकी शक्तियां कुंठित हुई हैं और अनेक अनपेक्षित चीजें मानव जीवन के साथ जुड़ी हैं। देखना यह है कि इसमें दोष किसका है? विज्ञान का अथवा उपभोक्ता का? विज्ञान कितने ही नए आविष्कार करे, उनके प्रयोग में संयम रखा जाए तो स्थिति इतनी जटिल नहीं होती। आज जब कि वैज्ञानिक उपकरण प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होने लगे हैं, वे छूट सकें, यह संभव प्रतीत नहीं होता। यदि उनका उपयोग है तो छोड़ने की बात समझ में भी नहीं आएगी। समझने का एक ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वह है अणुव्रत दर्शन। अणुव्रत दर्शन के अनुसार जीवन को ढालने का लक्ष्य हो तो असीम संग्रह और असीम भोग की समस्या को स्थायी समाधान मिल सकता है। यही एक मार्ग है, जो दो विपरीत दिशाओं में सेतु बनकर मनुष्य को अपने गंतव्य की ओर आगे बढ़ाने में पूरा-पूरा सहयोग देता है।

३२. लहर बदलने वाला झोंका

अणुव्रत है लोकचेतना जगाने का आन्दोलन। नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील आन्दोलन। चारित्रिक स्तर को उन्नत करने वाला आन्दोलन। अणुव्रत एक ऐसा आन्दोलन, जो न राजनीति से प्रेरित है और न धार्मिक आस्थाओं के साथ इसका कोई अनुबन्ध है। न किसी प्रकार की उपासना का आग्रह और न किसी उपासना पद्धति से परहेज। अच्छा जीवन जीने का संकल्प स्वीकार करने के लिए अच्छाई का एक पैमाना। ऊंचा जीवन जीने की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति के लिए ऊंचाई का एक आदर्श।

देश की आजादी के साथ-साथ अणुव्रत आन्दोलन मुखर हुआ। देश के लाखों-करोड़ों कानों ने अणुव्रत का घोष सुना। हजारों-हजारों व्यक्तियों ने अणुव्रत को सराहा। सैकड़ों-सैकड़ों लोगों ने अणुव्रत को अपनाया। सैकड़ों कार्यकर्ताओं ने अणुव्रत का दीया हाथ में लेकर युग के अंधेरों से लड़ने का बीड़ा उठाया। चार दशकों की यात्रा पूरी हो गई। पांचवे दशक में एक बार फिर अणुव्रत पर देश की निगाहें टिकी हैं। इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकीकरण पुरस्कार ने अणुव्रत को सुखियों में ला दिया। अणुव्रत में सक्रिय भागीदारी रखने वाले व्यक्तियों का दायित्व और अधिक बढ़ गया। यह भी एक संयोग है कि इस वर्ष हमने पूरे वर्ष के लिए प्रतिमास एक दिन अणुव्रत के नाम से रखा है। प्रत्येक महीने के शुक्ल पक्ष की द्वितीया का दिन 'अणुव्रत चेतना दिवस' के रूप में आयोजित करने का निर्णय लिया गया है। यह काम अणुव्रत को विशेष गति देने के उद्देश्य से किया गया है।

वैसे विगत अनेक वर्षों से देश भर में अणुव्रत का एक वार्षिक कार्यक्रम—अणुव्रत उद्बोधन सप्ताह होता रहा है। नेटवर्क के रूप में समायोजित इस कार्यक्रम से काफी ठोस परिणामों की अपेक्षा थी। किन्तु

लहर बदलने वाला झोंका : ६६

वैसा नहीं हो पाया। कारणों की मीमांसा की जाए तो एक लम्बी कारण-शृंखला उपस्थित की जा सकती है। पर उसमें कोई लाभ नहीं दीखता। जो नहीं हुआ, उसको लेकर बैठ जाएं तो कार्य की नई संभावनाओं के रास्ते बन्द हो जाते हैं। वर्ष में एक बार ही सही उद्बोधन सप्ताह के नाम से अणुव्रत पर चर्चा तो हुई। साधु-साध्वियों को एक सार्वजनिक कार्यक्रम करने का अवसर तो मिला। यह भी क्या कम संतोष का विषय है कि अणुव्रत ने काम करने का एक व्यापक मंच तो दिया।

‘अणुव्रत चेतना दिवस’ प्रति माह अणुव्रत के स्वर को मुखर करने में निमित्त बन रहा है। यह दिन मनाने का उद्देश्य इतना ही नहीं है कि अणुव्रत के विषय में व्याख्यान हो जाए, अच्छे वक्ताओं को बोलने का अवसर दे दिया जाए और कुछ लोगों से अणुव्रत के फार्म भरवा कर उन्हें अणुव्रती बना लिया जाए। अणुव्रत के प्रतिज्ञापत्र भरना बहुत स्थूल बात है। मूल बात है अणुव्रत का दर्शन। दर्शन की गहराई में उतरकर उसे समझना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है। अणुव्रत दर्शन को समझे बिना अणुव्रती बनना बिना बुनियाद मकान खड़ा करने के समान है। अणुव्रत क्या करना चाहता है? क्या कहना चाहता है और क्या देना चाहता है? इन सब प्रश्नों को चरित्र-निर्माण के सन्दर्भ में समझना और समझाना है।

प्रश्न हो सकता है कि ‘अणुव्रत चेतना दिवस’ महीने में एक दिन का कार्यक्रम है। एक दिन से क्या होगा? मैं इस भाषा में नहीं सोचता। लहर बदलने के लिए हवा का एक झोंका ही काफी होता है। सैकड़ों स्थानों में एक दिन यह घोष— बदले युग की धारा : अणुव्रतों के द्वारा—मुखरित होगा, दिग्दिगन्त इसके निनाद से गूँज उठेंगे और मनुष्य के विचारों की लहर बदलेगी, यह मेरा निश्चित विश्वास है।

३३. विध्वंस के चौराहे पर

सन् १९९३ का वर्ष पूर्णता के बिन्दु की ओर अग्रसर है। समय के भाल पर १९९४ का सूरज उदित होने वाला है। देश के प्रबुद्ध लोग विगत वर्ष की समीक्षा कर रहे हैं। राजनीतिज्ञों का अपना नजरिया है। समाजशास्त्री अपने ढंग से सोचते हैं। अर्थशास्त्रियों का अपना दृष्टिकोण है। वैज्ञानिकों की अपनी सोच है। गुरुओं की अपनी अवधारणा है और आम आदमी के चिन्तन का अपना अलग आधार है। इन सबके चिन्तन का आकलन कर निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस प्रस्तुति में भी बहुत अन्तर रह सकता है। पर बम्बई-कलकत्ता में हुए बम-विस्फोटों की बात संभवतः कहीं भी नहीं छूट पाएगी।

प्रश्न दो-चार बार हुए विस्फोटों का नहीं, उस चेतना का है जो व्यक्ति को विध्वंस के रास्ते पर धकेलती है। प्रश्न बम्बई, कलकत्ता, कश्मीर या असम का नहीं, उस मनोवृत्ति का है जो आतंक फैलाती है। प्रश्न किसी जाति, वर्ग या देश का नहीं, उस युवापीढ़ी का है, जो गुमराह हो रही है। इन या इन जैसे ही अनेक प्रश्नों का समुचित समाधान नहीं खोजा गया तो बम विस्फोट जैसे हादसों की शृंखला और अधिक लम्बी हो सकती है।

जब कभी और जहां कहीं ऐसे हादसे होते हैं, एक बार गहरी हलचल होती है। समाचार पत्र उनको सुर्खियों में प्रकाशित करते हैं। सरकारी स्तर पर चिन्ता व्यक्त की जाती है। कुछ व्यक्तियों या संगठनों द्वारा जांच की मांग होती है और वातवरण पूरी तरह से ऊष्मा से भर जाता है। एक बार तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो पूरी शक्ति और तत्परता के साथ अवांछित घटनाओं के कारणों की खोज और उनके निवारण के उपाय काम में लिए जाएंगे। किन्तु 'नई बात नौ दिन' वाली कहावत के अनुसार उभरे स्वर मन्द

हो जाते हैं और घटना पर समय की परतें चढ़ जाती है।

एक स्वतंत्र और लोकतंत्रीय आस्था वाले राष्ट्र में यह सब होता है, इसका मुख्य कारण है—प्रामाणिकता, कर्तव्यनिष्ठा और जागरूकता का अभाव। संस्कारों का स्रोत ऊपर से नीचे की ओर जाता है। राष्ट्र के उच्च स्तर या वर्ग के लोग अपने जीवन को उपर्युक्त तीन मूल्यों से संस्कारित कर सकें तो उनके अधीन काम करने वाले व्यक्तियों तक यह रोशनी अपने आप पहुंचेगी। अणुव्रत ऐसी रोशनी का अक्षयस्रोत है। नववर्ष प्रवेश के अवसर पर उस स्रोत को खोला गया, अणुव्रत दर्शन को जीवन के साथ जोड़ा गया तो आगामी वर्ष ध्वंस और आतंक की संस्कृति को बदल सकेगा, ऐसा विश्वास है।

३४. जरूरत है सही दृष्टिकोण की

जमाना बहुत बुरा है। भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। धोखाधड़ी बढ़ रही है। आतंकवाद की समस्या है। अलगाववाद की मनोवृत्ति विकसित हो रही है। जातिवाद के कंटीले कैक्टस बढ़ते जा रहे हैं। सम्प्रदाय के नाम पर संघर्ष छिड़ रहे हैं। चुनाव में अनैतिकता-ही-अनैतिकता है। अपहरण, हत्या, बलात्कार और लूटमार की वारदातों ने आदमी का सुख-चैन छीन लिया है। कहीं सुरक्षा नहीं है। दिन-दहाड़े बैंक लूटे जा रहे हैं। कोई निश्चिन्त नहीं है। पता नहीं कल क्या होगा? इस प्रकार की दुश्चिन्ताएं जिन्दगी को भार बना रही हैं।

मैं बहुत बार सोचता हूँ कि संसार के सभी लोग उक्त निषेधात्मक भावों से भरे हों तब तो किसी का जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता। देखा जाता है कि अवांछित वारदातों के बावजूद अरबों लोग जी रहे हैं। क्योंकि गलत काम करने वालों की संख्या बहुत कम है। यदि इन लोगों का अनुपात अधिक हो गया तो प्रलय की स्थिति पैदा हो जाएगी। अभी बहुत जल्दी किसी प्रलय की आशंका नहीं है। इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि संसार में गलत तत्त्व कम हैं और अच्छे आदमी अधिक हैं।

प्रश्न हो सकता है कि अच्छे आदमी अधिक हैं तो वे दिखाई क्यों नहीं देते? देखने के लिए सही दृष्टि चाहिए। दृष्टि सम्यक् नहीं होती है तो ज्ञान विपरीत हो जाता है। एक संन्यासी गांव के बाहर झोंपड़ी में रहता था। एक व्यक्ति दूसरे गांव से आया और बोला—‘बाबा! मैं अपना गांव छोड़कर यहां रहने के लिए आया हूँ। यह गांव कैसा है?’ संन्यासी ने पूछा—‘तुम जिस गांव को छोड़कर आए हो, वह कैसा है?’ राहगीर बोला—‘वह तो बहुत अच्छा है।’ संन्यासी ने कहा—‘भाई! यह गांव अच्छा है। तुम यहां प्रसन्नता से रहो।’

जरूरत है सही दृष्टिकोण की : ७३

कुछ समय बीता। वहां एक दूसरा व्यक्ति आया। वह भी संन्यासी से मिला। गांव की स्थिति के बारे में जानकारी पाने के लिए उसने प्रश्न किया—‘बाबा! इस गांव का नाम बहुत है। आप तो यहीं रहते हैं। कृपा कर बताएं गांव कैसा है?’ संन्यासी ने प्रतिप्रश्न किया—‘भाई ! तुम जिस गांव से यहां आए हो, वह कैसा है?’ राहगीर ने कहा—‘बाबा! उस गांव की बात मत पूछो। वहां न कोई सुविधा है और न कोई व्यवस्था। गांव के लोग भी अच्छे नहीं हैं। इसीलिए तो मैं उसे छोड़कर यहां रहने आया हूं।’ संन्यासी ने उस व्यक्ति को ध्यान से देखकर कहा—‘भाई! यह गांव तो और भी गया-बीता है। तुम लौट जाओ। यहां तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं होगी।’

संन्यासी के साथ उसका शिष्य रहता था। वह अपने गुरु की बात सुन देखता रह गया। गुरु ने पूछा—‘वत्स! क्या हुआ? ऐसे क्या देख रहे हो?’ शिष्य बोला—‘गुरुदेव ! कुछ समय पहले एक आदमी आया था। उसको आपने कहा था कि गांव बहुत अच्छा है। तुम यहां प्रसन्नता से रहो। और इस आदमी से आपने पूर्व कथन से एकदम विपरीत बात कही। मैं समझ नहीं पाया कि आपने ऐसा क्यों कहा?’ संन्यासी ने अपने शिष्य की उलझन समाप्त करते हुए कहा—‘वत्स! जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। उस आदमी का दृष्टिकोण विधायक था। वह कहीं भी जाएगा, उसे सब अच्छा ही लगेगा। यह व्यक्ति निषेधात्मक भावों में जीता है। यह स्वर्ग में चला जाएगा तो भी इसे बुराई ही नजर आएगी।’

मनुष्य के भावों में विधायकता और निषेधात्मकता दोनों हैं। यदि वह निषेधात्मक भावों से भरा रहेगा तो कभी सुख और शान्ति को उपलब्ध नहीं कर सकेगा। यदि उसका चिन्तन पोजिटिव हो जाए तो वह हर समय आनन्द की अनुभूति कर सकता है। इस संसार-पटल पर जो कुछ अवांछनीय है, उसे अनदेखा करने मात्र से समस्या का समाधान नहीं होगा। समस्या को सही नजरिए से देखकर समाधान की सही दिशा खोजने से पहले व्यक्ति को यह विश्वास तो हो कि वह एक अच्छे संसार में जी रहा है। अन्यथा जीने की इच्छा को ही जंग लगने की संभावना की जा सकती है।

३५. स्वस्थ जीवन का आश्वासन

प्रबुद्ध और सम्पन्न युवकों का एक समूह। वे आपस में मिलते हैं। समाज विकास के सपने देखते हैं। देश को उन्नति के शिखर पर ले जाने की योजनाएं बनाते हैं। किन्तु भीतर-ही-भीतर तनाव से भरे हुए हैं। टूटन का अनुभव कर रहे हैं। परिवार में अनुशासनहीनता की त्रासदी भोग रहे हैं। व्यसनों के गलियारों में घूमते हुए बच्चों को रोकने में असफल हो रहे हैं। इसलिए वे मुस्कराने की कोशिश करते हुए भी उदास हैं, हताश हैं और किसी ऐसे उपाय की खोज में हैं, जो उनको स्वस्थ और प्रसन्न जीवन का आश्वासन दे सके।

एक ऐसे ही समूह के पास कुछ युवा कार्यकर्ता पहुंचे। उनकी परिस्थिति और मनःस्थिति का आकलन करते हुए उन्होंने कुछ प्रश्न उपस्थित किये—
क्या आप तनावमुक्त जीवन जीना चाहते हैं?

क्या आप अपने बच्चों में अच्छे संस्कार जगाना चाहते हैं?

क्या आप अपने परिवार में मानवीय मूल्यों को स्थापित करना चाहते हैं?

सुना है कि अणुव्रत समिति, कलकत्ता के उत्साही कार्यकर्ताओं ने विगत कुछ अर्से से एक अभियान शुरू किया है। वे कलकत्ता महानगर में वहां के प्रबुद्ध वर्ग से सम्पर्क साध रहे हैं। रोटरी और लायन्स क्लबों की तरह उन्होंने वहां के डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, जज आदि उच्च शिक्षित वर्गों के छह सौ व्यक्तियों को प्रथम बार में चुना है। कौन कार्यकर्ता कितने व्यक्तियों के साथ सम्पर्क स्थापित करेगा—इस निर्णायक व्यवस्था कार्य का विभाजन किया गया है। जिन व्यक्तियों से उनको मिलना होता है, वे पहले पत्र-व्यवहार कर उनसे समय लेते हैं। समय मिलने पर वे उनकी सुविधा के अनुसार घर या ऑफिस में मिलते हैं। साक्षात्कार के क्षणों में उनका प्रश्न होता है— आपकी क्या काम है? हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में

स्वस्थ जीवन का आश्वासन : ७५

अणुव्रत के कार्यकर्ता उनके सामने उक्त तीनों प्रश्न उपस्थित करते हैं। यदि वे लोग प्रश्नों को उत्तरित करने में रुचि लेते हैं और अपनी समस्याओं के समाधान में उनके सहयोग की अपेक्षा करते हैं तो वे मिलने का सिलसिला जारी रखते हैं। एक वर्ष में कम-से-कम दस बार मिलकर चर्चा करना उनका लक्ष्य है।

कार्यकर्ता जिज्ञासु व्यक्तियों को अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान का प्राथमिक साहित्य देते हैं। उनके बारे में अवगति देते हैं और प्रायोगिक जीवन जीने की प्रेरणा देते हैं। ध्यान, कायोत्सर्ग और अनुप्रेक्षा के प्रयोग भी बताते हैं। जो लोग प्रयोग करते हैं, उन्हें त्राण का अनुभव होता है। शहरी भागदौड़, व्यावसायिक व्यस्तता और अन्तहीन महत्त्वाकांक्षाओं से उपजा तनाव वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है। इसका प्रभाव छोटे-बड़े सब प्रकार के लोगों पर है। इसलिए तनावमुक्ति के कारगर उपायों के प्रति आकर्षण होना अस्वाभाविक नहीं है।

दूरदर्शन की अपनी उपयोगिता है। पर आज उसका जितना दुरुपयोग हो रहा है, चिन्ता का विषय है। बच्चों की संस्कारहीनता में उसकी मुख्य भूमिका है। उसने विद्यार्थियों की पढ़ाई को भी प्रभावित किया है। घंटों, प्रहरों टी. वी. के सामने बैठने वाले बच्चे अध्ययन के लिए समय कहां से पाएंगे?

उक्त दोनों प्रकार की समस्याओं को समाहित करने के लिए बहुत लोगों के मन में तड़प है। इन समस्याओं का समाधान भी है। कठिनाई एक ही है कि उनकी पहुंच सही जगह नहीं है। धार्मिक नेता साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से मुक्त नहीं हैं। वे मन्दिर-मस्जिद की बातों में इतने उलझ जाते हैं कि करणीय काम छूट जाते हैं। वे दाड़िम के दानों को फेंक कर छिलका खाने की भूल कर रहे हैं। ऐसी भूल का अनुभव करना भी एक बड़ी उपलब्धि हो सकती है।

देश में जितनी अणुव्रत समितियां हैं, वे क्षेत्रीय अपेक्षा के अनुसार कुछ रचनात्मक काम हाथ में लें और चुने हुए व्यक्तियों से सम्पर्क कर उन्हें अणुव्रत-दर्शन और उसके निदेशक तत्त्वों की विस्तृत जानकारी दें, उनके सामने ऐसे प्रश्न उपस्थित करें तो उनको एक नयी दिशा मिल सकती है।

७६ : दीये से दीया जले

३६. जीवन को संवारने वाले तत्त्व

मनुष्य के जीवन को संवारने वाले दो तत्त्व हैं—अध्यात्म और नैतिकता। अध्यात्म शाश्वत मूल्य है। नैतिकता देश-काल-सापेक्ष सचाई है। अध्यात्म का सम्बन्ध अन्तर्जगत् के साथ है। नैतिकता बाह्य-जगत् का व्यवहार है। अध्यात्म की सत्ता त्रैकालिक है। नैतिकता का सम्बन्ध वर्तमान के साथ है। अध्यात्म की परिभाषा निश्चित है। नैतिकता की परिभाषा परिवर्तनशील है। अध्यात्म का कोई सन्दर्भ नहीं होता। वह नितान्त निरपेक्ष तत्त्व है। जैन दर्शन की भाषा में वह निश्चय है। नैतिकता विभिन्न सन्दर्भों और कालखण्डों में आबद्ध रहती है। जैन दर्शन की भाषा में वह व्यवहार है। अध्यात्म की परिभाषा का निर्धारण किसी वैचारिक धरातल या सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के आधार पर नहीं होता। नैतिकता को परिभाषित करते समय ये सब सामने रहते हैं। अध्यात्म कभी नैतिकता शून्य नहीं होता। किन्तु नैतिकता अध्यात्म की परिधि से बाहर भी जाती है।

अध्यात्म सदा था, है और रहेगा। उसकी सत्ता को कभी चुनौती नहीं दी जा सकती। अध्यात्म का सीधा-सा अर्थ है—आत्मा में रहना। जो व्यक्ति आत्मा में रहता है, अपने आप में रहता है, वह आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध होता है। उस अस्तित्व को वह सबमें देखता है। इसलिए उसका कोई भी आचरण ऐसा नहीं होता, जो किसी के अस्तित्व को अस्वीकार या प्रतिहत करे। अध्यात्म सबके लिए आदर्श हो सकता है। पर इस क्षेत्र में आगे बढ़ना सबके लिए संभव नहीं है। इसलिए दूसरे पथ की खोज की गई। उसकी पहचान नैतिकता के रूप में होती है।

नैतिकता और अनैतिकता—ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं। लोगों की जुबान पर बार-बार एक बात फिसलती है कि नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है।

जीवन को संवारने वाले तत्त्व : ७७

अनैतिकता बढ़ रही है। इस कथन के साथ आज जितनी तीव्रता है, हजारों वर्ष पहले भी यह बात इतनी ही तीव्रता के साथ कही जाती थी। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि ऐसी बातें मनुष्य के मनोबल को कमजोर बनाती हैं। कोई व्यक्ति नैतिकता का परचम हाथ में लेकर चल भी पड़े तो ऐसी प्रतिकूल हवा में वह उसे कब तक थामकर रख पाएगा? समाज में नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है तो मनुष्य को अपनी सोच बदलनी होगी और बदलना होगा हवा के रुख को देखकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का मनोभाव।

अनैतिकता क्या है? किसी एक वाक्य में इसको परिभाषित करना संभव नहीं है। समाज या राज्य सम्मत मूल्यों के अतिक्रमण को अनैतिकता कहा जाता है। पर कभी-कभी सामाजिक मान्यताएं भी अनैतिकता की पृष्ठपोषक बन जाती हैं। सत्ता के सिंहासन पर बैठे लोग भी अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए ऐसे काम कर लेते हैं, जो किसी भी दृष्टि से नैतिक नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में नैतिक मूल्यों की अवधारणाओं को लेकर ऊहापोह हो सकता है। समाज-व्यवस्था, कानून और धर्म मनुष्य के जीवन में नैतिकता का प्रभाव न छोड़ सके तो फिर जन-चेतना का जागरण आवश्यक है। जहां जन जागृत हो जाता है, जहां लोकचेतना जाग जाती है, वहां कठिन या असंभव दिखाई देने वाला काम भी सरल और संभव बन जाता है। इस विश्वास के आधार पर ही नैतिकता के प्रति जन-आस्था को केन्द्रित किया जा सकता है।

३७. सन्देह का कुहासा : विश्वास का सूरज

पिछले दिनों विश्व के इतिहास में एक और उल्लेखनीय घटना घटी। उस घटना ने अहिंसा में आस्था रखने वाले व्यक्तियों और संगठनों को नया हौसला दिया है। घटना का सम्बन्ध है परमाणु आयुधों के द्वारा होने वाले युद्ध की आशंका को कम करने की दिशा में हुए एक समझौते के साथ। रूस और अमेरिका के बीच हुए उस समझौते की पहचान 'स्टार्ट सन्धि : द्वितीय चरण' के रूप में कराई गई।

'स्टार्ट सन्धि : प्रथम चरण' की घटना अभी बहुत पुरानी नहीं हुई है। पर प्रथम और द्वितीय चरण के बीच उभरे छोटे-से अन्तराल में राजनैतिक उथल-पुथल ने विश्व की दो महाशक्तियों में से एक के अस्तित्व को चुनौती दे डाली। स्टार्ट प्रथम संधि पर हस्ताक्षर के समय सोवियत संघ एक महाशक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त था। दूसरी संधि के समय सोवियत संघ की सत्ता बिखर गई। जिन देशों के समवाय से सोवियत संघ की संरचना हुई थी, वे अपनी निजी पहचान की आकांक्षा के शिकार हो गए। गोर्बाच्योव के पुनर्निर्माण और खुलेपन की भावना से वहां क्रान्ति की एक लहर उठी, पर वह गोर्बाच्योव को एक ओर छोड़कर विलीन हो गई।

'स्टार्ट सन्धि : द्वितीय चरण' में अमेरिका और पूर्व सोवियत संघ के उत्तराधिकारी देशों ने परमाणु आयुधों में दो तिहाई कमी करने का वादा किया गया है। यह वादा एक दशक की अवधि में पूरा होगा, ऐसा विश्वास किया जाता है। सन् १९९३ से २००३ तक का यह समय इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इतना हो जाने के बाद भी दोनों देशों के पास बचे परमाणु आयुधों की शक्ति समूचे विश्व को दस बार नष्ट कर सकती है। यह स्थिति अब भी कम भयावह नहीं है। सन्तोष की बात इतनी

सन्देह का कुहासा : विश्वास का सूरज : ७६

ही है कि परमाणु अस्त्रों के नए निर्माण की चेतना को कुंठित कर सम्बन्धित व्यक्तियों को सोच की नई खिड़की से झांकने के लिए विवश कर दिया गया है।

परमाणु आयुध परिसीमन का विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों ने स्वागत किया। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य की आस्था हिंसा में नहीं है, अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में नहीं है और उनके प्रयोग में भी नहीं है। अस्त्र-शस्त्र बढ़ाने का मतलब है आपसी सन्देह को बढ़ाना। अमुक राष्ट्र संहारक परमाणु आयुधों का निर्माण कर रहा है। वह शक्ति सम्पन्न होकर मेरे अस्तित्व को समाप्त न कर दे—इस आशंका से प्रेरित होकर दूसरा राष्ट्र नए आयुधों के निर्माण में सक्रिय हो जाता है। उसकी सक्रियता उसके प्रतिद्वन्द्वी में भय की भावना जगाती है। इस प्रकार सन्देह-से-सन्देह की परम्परा बढ़ती जाती है।

वैर से वैर शान्त नहीं होता। सन्देह से सन्देह दूर नहीं होता। वैर का शमन मित्रता का हाथ बढ़ाने से ही संभव है। सन्देह का कुहासा आपसी विश्वास का सूरज उगाने से ही छंट सकता है। इस भावना के आधार पर ही शस्त्रनिर्माण और उसके प्रयोग को नियन्त्रित किया जा सकता है। विश्व में शस्त्रास्त्रों के निर्माण एवं सेना पर जितने अर्थ का व्यय होता है, उसमें कुछ प्रतिशत भी कटौती होती है तो संसार राहत का अनुभव कर सकता है। अपने कार्यकाल की समाप्ति के साथ विदा होते-होते राष्ट्रपति बुश ने जो श्रेय लिया है, वह सभी राष्ट्राध्यक्षों के लिए अनुकरणीय है।

अणुव्रत आचार-संहिता की एक धारा है—‘मैं आक्रमण नहीं करूंगा और आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा।’ अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण की मानसिकता को बदलने में इस धारा की सक्रिय भूमिका है। काश! इस युग का आदमी अणुव्रत दर्शन को गहराई से समझे और उसे जीने के लिए दृढ़ संकल्प कर सके तो सारा संसार माँ अहिंसा की गोद में सुख से सो सकता है।

३८. मूल्य अर्हताओं का

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—प्रगतिशील और परंपरावादी। प्रगतिशील व्यक्ति प्राचीन परंपराओं के भंजक ही होते हैं, यह बात नहीं है। जो परंपराएं, मर्यादाएं या वर्जनाएं उनकी प्रगति में अवरोध उपस्थित नहीं करतीं, उनकी छेड़छाड़ करने में उनका विश्वास नहीं होता। पर उद्देश्यहीन अवरोध उनके लिए असह्य हो उठता है। इसलिए वे समय-समय पर कुछ नई परंपराएं स्थापित कर देते हैं। यदि ऐसा नहीं होता है तो सम्बन्धित समाज जड़ता की गिरफ्त में आ जाता है और वह अप्रासंगिक भी बन जाता है।

परंपरावादी लोग परिवर्तन के नाम से ही चौंकते हैं। पहले से खींची हुई लकीरों को मिटाने में उनकी आस्था नहीं होती। उनमें इतना साहस भी नहीं होता कि वे कुछ नई लकीरें खींच सकें। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। अपने समकालीन अन्य व्यक्तियों द्वारा किए गए किसी परिवर्तन को स्वीकार करना या सहन करना भी उन्हें गवारा नहीं होता। इसका ताजा उदाहरण है—इंग्लैण्ड के चर्च में पादरी की कुर्सी पर स्त्री की उपस्थिति का व्यापक विरोध।

ईसाई समाज में बहुत वर्षों से चर्चा छिड़ी हुई है कि स्त्री को पादरी बनने का अधिकार है या नहीं? केवल ईसाई समाज में ही क्या, पुरुष सत्तात्मक किसी भी समाज में ऐसे मुद्दे विवाद के विषय बन जाते हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि इंग्लैण्ड जैसे देश में, जहां रहने वाले लोग बौद्धिकता के क्षेत्र में गतिशील होने का दावा करते हैं, स्त्री के बारे में इतने रूढ़िवादी बन रहे हैं। यही कारण है कि इंग्लैण्ड में पादरी की कुर्सी पर कुछ मतों से ही सही, विजयी बनी महिला पादरी के विरोध में जुलूस निकाले गए और प्रदर्शन हुए।

शताब्दियों से जिन पदों पर पुरुषों का ही एकछत्र अधिकार हो, वहाँ स्त्रियों का हस्तक्षेप पुरुषों के लिए असह्य हो सकता है। पर स्वयं स्त्रियाँ भी स्त्री की प्रगति में दीवार बनकर खड़ी हो जाएँ, इससे अधिक विडम्बना क्या हो सकती है? चर्चा है कि इंग्लैण्ड में स्त्रियों ने स्त्री को पादरी बनने का अधिकार देने के विरोध में एक संगठन बनाया है। उस संगठन का प्रदर्शन सबसे अधिक प्रभावशाली रहा है। स्त्रियों द्वारा स्त्री के शोषण का यह एक ऐसा दस्तावेज है, जो युग-युग तक उनकी समझ के आगे प्रश्नचिह्न टांगता रहेगा। भारत जैसे देश में, जहाँ धार्मिक अन्धविश्वास और पारंपरिक आस्थाएँ अधिक पुष्ट हैं, ऐसी घटना को सामान्य नजरिए से देखा जा सकता था। किन्तु विकास की दौड़ में अग्रसर किसी भी राष्ट्र में घटित ऐसे प्रसंग विश्वभर की चर्च-परम्पराओं को आन्दोलित कर रहे हैं, यह आश्चर्य का विषय है।

इस बात से मैं सहमत हूँ कि स्त्री और पुरुष की प्रकृति में अन्तर है। पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि स्त्री में किसी प्रकार की अर्हता नहीं होती। स्त्रियों की अपनी अर्हताएँ हैं, पुरुषों की अपनी अर्हताएँ हैं। स्त्री और पुरुष में समानता अथवा समानाधिकार को विवाद का मुद्दा न बनाकर उनको अपनी-अपनी अर्हताओं के विकास एवं उपयोग की छूट मिले तो टकराव की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होगी। पर लगता है कि पुरुषों के मन में किसी अज्ञात भय की टिटहरी पंख फड़फड़ाती रहती है। वे सोचते होंगे कि स्त्रियाँ नियंत्रण में नहीं रहीं तो प्रलय मच जाएगा। यह बात तो पुरुषों के बारे में भी सोची जा सकती है।

इसलिए पारस्परिक भ्रम को तोड़कर एक-दूसरे की विकासयात्रा में संभागी बनने की बात सोची जाए तो उसके अच्छे परिणाम आ सकते हैं। एंग्लिकन चर्च ने ग्यारह गिरजाघरों तक सीमित महिला पादरी के अधिकार को सैकड़ों चर्चों के लिए मुक्त कर दिया है। महिलाएँ इस पद की गरिमा के अनुरूप अपने दायित्व का निर्वाह कर सकीं तो उनके विरोध में उठी आंधी स्वतः ही शान्त हो जाएगी। इंग्लैण्ड में जो घटना घटी है, उसके परिणामों की प्रतीक्षा ही की जा सकती है। फिलहाल तो इतना मानना ही काफी है कि हजारों वर्षों से चली आ रही परम्परा में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है, वह उल्लेखनीय है।

३६. आस्था और जागरूकता का कवच

संस्कृति जीवन को संवारने वाला तत्त्व है। उसकी सुरक्षा जीवन की सुरक्षा है। उसमें देश, समाज और जाति के आधार पर किसी विभाजन की अपेक्षा नहीं है। पर मनुष्य की बांटने की मनोवृत्ति ने अन्यान्य तत्त्वों की तरह संस्कृति को भी विभक्त कर दिया। इसीलिए पौरवात्य और पाश्चात्य संस्कृतियों की सत्ता उजागर हुई। भारतीय और अभारतीय संस्कृति का भेद भी इसी प्रकार की मानसिकता की उपज है। मेरे अभिमत से संस्कृति ऐसा तत्त्व है, जिसे कोई दूसरा क्षति नहीं पहुंचा सकता। धर्म और संस्कृति को लेकर हुए विवादों में परस्पर गाली-गलौच हो सकता है, आतंक फैलाया जा सकता है, अंग-भंग किया जा सकता है, प्राणापहार तक किया जा सकता है। पर कोई किसी को धर्म या संस्कृति से विमुख नहीं कर सकता। परिस्थितियों के सामने घुटने टिकाने वाले व्यक्ति स्वयं ही उससे विमुख हो जाएं, यह दूसरी बात है। व्यक्ति की आस्था और जागरूकता कवच बनकर संस्कृति को सुरक्षा देती है।

धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक और पारम्परिक रूप में भारतीय संस्कृति की अलग पहचान बन जाने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी मौलिकता को सुरक्षित रखा जाए। इस संस्कृति की मौलिकता का एक बिन्दु है व्रत या त्याग की चेतना। व्रत सुरक्षा है। मूल्यों, आदर्शों और अच्छाइयों की सुरक्षा। मर्यादा और कानून को तोड़ा जा सकता है। आत्मसाक्षी और गुरु-साक्षी से स्वीकृत व्रत को तोड़ते समय व्यक्ति आत्मग्लानि का अनुभव करने लगता है। किसी परिस्थिति में व्रत का भंग हो जाए तो व्यक्ति की आत्मा भीतर-ही-भीतर कचोटती रहती है। बहुत बार तो संकल्प की नौका डूबती-डूबती किनारे लग जाती है।

आस्था और जागरूकता का कवच : ८३

एक व्यक्ति ने संकल्प स्वीकार किया—वह निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करेगा, आत्महत्या भी नहीं करेगा। एक बार वह परिस्थितियों से घिर गया। जीना मुश्किल हो गया। जीवन से ऊबकर उसने मृत्यु का वरण करने की बात सोची। अपनी सोच को क्रियान्वित करने के लिए घर छोड़कर समुद्रतट पर जा पहुंचा। समुद्र में छलांग भरने की पूरी तैयारी। सहसा मन के किसी कोने में सोया संकल्प जाग उठा। आत्महत्या नहीं करूंगा—ये शब्द उसके भीतर गूँजने लगे। उसने इरादा बदला। सकुशल घर पहुंच गया। उसी व्यक्ति ने बताया—‘व्रत स्वीकार करते समय मैंने सोचा था कि ऐसे व्रत की क्या अपेक्षा है? किन्तु मैं अब अनुभव करता हूँ कि इस व्रत ने मुझे बचा लिया। यदि मुझे व्रत याद नहीं आता तो मेरे बहके हुए कदमों को मोड़ने वाला दूसरा कोई वहां नहीं था।’

व्रत भारतीय संस्कृति को जीवित रखने वाली प्राणधारा है। इसी बात को ध्यान में रखकर व्रत का आन्दोलन शुरू किया गया। व्रत के दो रूप हैं—महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रत का क्षेत्र सीमित है। हर कोई व्यक्ति महाव्रतों की साधना नहीं कर सकता। अणुव्रत राजपथ है। इस पथ पर हर एक चल सकता है। कोई भी व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है, इस चिन्तन से इसको साधारण बात मानना भी भूल है। व्रत कितना ही छोटा क्यों न हो, उससे व्यक्ति की कसौटी हो जाती है। संकल्पशक्ति और आत्मविश्वास के अभाव में छोटे-से-छोटे व्रत का पालन भी कठिन हो जाता है। संकल्पशक्ति बढ़ाने और आत्मविश्वास जुटाने से असंभव-सा प्रतीत होने वाला काम भी संभव बन जाता है।

अणुव्रत के दो फलित हैं—विकृति का निस्सरण और संस्कृति की सुरक्षा। मानव-मन को विकृत बनाने वाली विकृतियों से छुटकारा पाने के लिए अणुव्रत की शरण स्वीकार की जाए। अणुव्रत, एक ऐसा सुरक्षाकवच है, जो व्यक्ति या समाज को ही नहीं, उजली सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रख सकता है। इस सचाई से मनुष्य परिचित हो जाए तो मनुष्य के मन और सांस्कृतिक निर्मलताओं में हो रही विकृतियों की घुसपैठ को रोका जा सकता है।

४०. आस्था के दो आयाम

मनुष्य की आस्था को दो आयामों में देखा जा सकता है। एक आयाम है—सुविधाभोगी मनोवृत्ति। इस मनोवृत्ति वाले व्यक्ति श्रम से दूर भागते हैं। जीवन स्तर ऊंचा पसन्द करते हैं। जीवन-स्तर से उनका अभिप्राय कोठी, कार, टी. वी., फ्रिज, कूलर, ए. सी. आदि साधनों की उपलब्धि से है। इस उपलब्धि के लिए वे गलत रास्ते पर चल सकते हैं, गलत उपाय काम में ले सकते हैं, शरारतपूर्ण ओछी हरकतें कर सकते हैं, पर अपने आपको अच्छा प्रमाणित करने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ते। क्योंकि उनकी आस्था मनुष्य जीवन का सुख भोगने में है।

मनुष्य की आस्था का दूसरा आयाम है—चरित्र की पराकाष्ठा। इस आस्था को जीने वाला मानता है कि आन्तरिक पतन से बाहरी पतन के दरवाजे खुल जाते हैं। जो व्यक्ति धन-वैभव या सुविधा को चरित्र से अधिक मूल्य देता है, वह अपने मन में ईमानदारी की ललक नहीं जगा सकता। इस ललक के बिना जीवन सरल और साफ-सुथरा नहीं हो सकता। जीवन की विसंगतियों से बचने, मानवीय मूल्यों को जीने और संपन्नता में छिपी हिंसक स्पर्द्धा से दूर हटने के लिए अपने आपको बदलने का संकल्प करना होगा। जो अभी नहीं बदल सकता, वह कभी नहीं बदल सकता—इस आस्था की प्रेरणा से ही मनुष्य चरित्र के शिखर पर आरूढ़ हो सकता है।

कुछ लोग महावीर को अपना आदर्श मानते हैं। कुछ लोगों का विश्वास बुद्ध में है। कुछ लोग गांधी के अनुयायी हैं। कुछ लोगों की आस्था इसी कोटि के किसी महापुरुष में हो सकती है। प्रश्न यह है कि क्या सही अर्थ में ऐसे महापुरुष व्यक्ति के आदर्श हैं? शाब्दिक रूप में किसी को आदर्श मानना एक बात है। महत्त्व की बात है आदर्श में अपने आपको ढालना।

आस्था के दो आयाम : ८५

आदर्श के गुणगान ही पर्याप्त नहीं है। आदर्श को सांचा मान अपनी वृत्तियों को ठोंक-पीट कर उसके अनुरूप बनाने वाला ही एक दिन आदर्श बन सकता है। इसके लिए जीवन की जटिलताओं और कष्टों से परिचित होना जरूरी है। कम-से-कम व्यक्ति को यह ज्ञात हो कि जीवन कैसे जीया जाता है? इस सचाई का सामना करने से डरे हुए लोग कभी महावीर, बुद्ध या गांधी नहीं बन सकते।

चरित्र मनुष्यता का सबसे बड़ा मानदण्ड है। चरित्रबल क्षीण होने से व्यक्ति कितना दरिद्र हो जाता है, इसका अनुभव वही कर सकता है। चरित्र के साथ क्षीण होती शरीर और मन की शक्ति व्यक्ति को पूरी तरह से अक्षम बना देती है। उसका आत्मविश्वास टूट जाता है। वह सोचता है कि अनैतिकता के बिना जीना संभव ही नहीं है। यह चिन्तन सन्देह की ऐसी बदली है, जो यथार्थ के सूरज को ढंक लेती है। इससे व्यक्ति के मन में जो अंधेरा उतरता है, उसे दूर धकेलना बहुत कठिन हो जाता है।

आस्था के पहले आयाम में जीने वाले लोगों से किसी प्रकार की आशा व्यर्थ है। किन्तु जो लोग दूसरे आयाम में जीते हैं, उनका दायित्व है कि वे मानवीय मूल्यों, सभ्यता और संस्कृति को सुरक्षित रखने का संकल्प अपने बलबूते पर करें। ऐसे लोग कभी परिस्थितियों की अनुकूलता के लिए प्रतीक्षा नहीं करते। समाज या राष्ट्र के सुन्दर भविष्य का निर्माण आस्था के दूसरे आयाम पर ही निर्भर है।

४१. समस्या विचारशून्यता की

अच्छाई मनुष्य में होती है। बुराई भी मनुष्य में होती है। सामान्यतः व्यक्ति की दृष्टि वहां पहुंचती है, जहां से उसकी अपनी अच्छाई उजागर हो। वह दूसरों की ओर देखता है। उस समय उसका नजरिया बदल जाता है। अपने सन्दर्भ में दूसरे को देखने की मनोवृत्ति क्षीण हो रही है। दूसरे की बुराई देखने से मिलेगा क्या? कौन व्यक्ति कितना बुरा है? वह किस प्रकार की बुराइयां करता है? इन सवालों में उलझने से लाभ क्या है? सवाल यह होना चाहिए कि किसी भी बुराई की रोकथाम कैसे हो?

बुराई व्यक्तिगत भी होती है और सामूहिक भी होती है। उसके इतने रूप हैं कि कोशिश करने पर भी उसका मूलभूत चेहरा सामने नहीं आता। बुराई के स्रोत को खोजा जाए तो संभव है उसकी रोकथाम के उपाय भी कारगर हो सकें। जरूरी नहीं है कि उपायों की खोज करने वाला व्यक्ति शत-प्रतिशत सफल हो जाएगा। पर वह उनकी आहट को पहचान ले तो भविष्य में आने वाली समस्या का समाधान खोजने में सुविधा हो सकती है। किसी भी तथ्य को लम्बी दूरी तक देखने का दर्शन परिस्थितियों को उस मोड़ तक पहुंचा सकता है, जहां से व्यक्ति के जीवन को नई दिशा उपलब्ध हो सकती है।

कुछ लोग अपने सामने से गुजरती परिस्थितियों को देखकर भी अनदेखा करते हैं। अंधे लोगों के बीच कितनी ही देर आईना घूमता रहे, वे अपनी सूरत नहीं देख सकते। अन्धापन केवल आंखों का ही नहीं होता, विचारों का भी होता है। विचारशून्यता और वैचारिक आग्रह सत्य को स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधाएं हैं। विचारशून्यता इस युग की एक गंभीर समस्या है। राजनेताओं और धर्मनेताओं की ही नहीं, दार्शनिकों और साहित्यकारों की

समस्या विचारशून्यता की : ८७

विचारशक्ति भी कुन्द हो रही है। नई सोच को जंग-सा लग गया है। क्या हुआ, किसी क्षेत्र में अंगुलियों पर गिने जाने योग्य नाम सामने आ जाएं। अंधेरे इतने सघन हैं कि उनसे लड़ने के लिए सितारे पर्याप्त नहीं होंगे। वे सितारे स्वयं गर्दिश में हों तो प्रकाश की आशा ही कैसे जगेगी?

कुछ लोग समय की प्रतीक्षा करते हैं। अनुकूल समय आएगा, तब काम करेंगे। यह भी एक प्रकार का बहाना है। जिनको काम करना है, वे किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। बहुत बार ऐसे लोग प्रारंभ में अकेले पड़ जाते हैं। उनका उपहास होता है, उपेक्षा होती है और उनके मार्ग में बाधाएं खड़ी की जाती हैं। आचार्य भिक्षु के साथ यही हुआ था। पर वे रुके नहीं, थके नहीं, चलते रहे। पथ प्रशस्त हुआ। कुछ लोगों ने सहयोग का हाथ बढ़ाया। उनकी क्रान्ति सफल हो गई। यदि वे प्रारंभिक मुसीबतों के आगे घुटने टेक देते तो आचार्यशैथिल्य के क्षेत्र में प्रतिकार के रास्ते धुंधलके में खो जाते।

वर्तमान लोकजीवन में जो बुराइयां हैं, उनका प्रतिकार अभी नहीं होगा तो कभी नहीं होगा। महावीर और गांधी के आदर्श देश के सामने हैं। देशवासियों का दायित्व है कि वे अपने भीतर झांकें और देखें कि उनके जीवन में वे आदर्श हैं क्या? जिसके जीवन में उन आदर्शों की सुगबुगाहट भी नहीं है, वे क्यों अपेक्षा करें कि दूसरे लोग उदाहरण बनें। यह परस्मैपद की सोच आत्मनेपद में बदलेगी, तभी बुराई के प्रतिकार का स्वर मुखर हो पाएगा। अणुव्रत आत्मसुधार या व्यक्तिसुधार का आन्दोलन है। इसी दर्शन के आधार पर मानव समाज विसंगतियों को मिटाने में सक्षम हो सकेगा।

४२. आज की खाद से कल का निर्माण

समय के पांव कभी रुकते नहीं हैं। मनुष्य कुछ करेगा तो समय बीतेगा और कुछ नहीं करेगा तो भी समय बीतेगा। समय को थामकर रखने की शक्ति या कला किसी के पास नहीं है। अतीत और भविष्य के बीच का क्षण कार्यकारी होता है। अतीत की स्मृति हो सकती है, पर उसे वर्तमान में नहीं लाया जा सकता। भविष्य की कल्पना की जा सकती है, पर कल्पना को जीया नहीं जा सका। जीने के लिए आज का दिन होता है। आज की खाद से ही कल का निर्माण संभव है। इसलिए आज को सही ढंग से जीने की अपेक्षा है।

मनुष्य में दो प्रकार के भाव होते हैं—विधायक भाव और निषेधात्मक भाव। विधायक भावों में जीने वाला व्यक्ति यत्र-तत्र अच्छाई देखता है। युधिष्ठिर ने पूरे शहर की परिक्रमा की, उसे एक भी व्यक्ति बुरा नहीं मिला। ऐसे व्यक्ति किसी दूसरे पर दोषारोपण नहीं करते। दो व्यक्तियों से संबंधित घटना में यदि कोई दुर्बल बिन्दु होता है तो उसे वे अपने साथ जोड़ते हैं। वे न तो अत्यधिक आशावादी होते हैं और न निराशा की गिरफ्त में आते हैं। वे चिन्तनपूर्वक काम करते हैं। सफल होने पर वे उसी पथ से आगे बढ़ते हैं और असफलता की स्थिति में रास्ता बदलकर चलते हैं। किन्तु उसकी जिम्मेवारी किसी भी निमित्त पर नहीं डालते।

निषेधात्मक भावों की प्रेरणा से मनुष्य का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं रह पाता। वह हमेशा ही अतीत को वर्तमान से अच्छा मानता है। वर्तमान कैसा ही क्यों न हो, वह उसमें दोष ही देखता है। किसी भी क्षेत्र में असफल होने पर वह सारा दोष व्यवस्था के सिर पर मढ़ देता है। आत्मनेपद की भाषा में सोचना उसका स्वभाव नहीं होता। परिवर्तन की अपेक्षा भी वह दूसरों से ही

आज की खाद से कल का निर्माण : ८६

करता है। दूसरों के प्रति उसका व्यवहार कैसा है? इस बात की चिन्ता किए बिना वह दूसरों से अनुकूल व्यवहार की अपेक्षा रखता है। उनके द्वारा प्रदत्त अनुकूलता में भी उसकी दृष्टि में प्रतिकूलता के प्रतिबिम्ब उभर आते हैं। यह उसका नहीं, उसके निषेधात्मक भावों का दोष है।

आज राजनेता निषेधात्मक दृष्टि से सोचता है। समाजसेवी का दृष्टिकोण विधायक नहीं है। धर्मनेता या धर्मोपदेशक का चिन्तन भी इसी दिशा में आगे बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में जनता में प्रेरणा कौन भरे? उसे सही दिशा कौन दे? उसकी मनः स्थिति को कौन बदले? आज तक सब लोग इसी क्रम से सोचते रहे हैं, इसी भाषा में बोलते रहे हैं और अपने आचरण को विवादास्पद बनाते रहे हैं तो फिर हम नई बात क्यों सोचें? इस प्रकार का चिन्तन भी व्यक्ति के निषेधात्मक भावों का प्रतीक है। किसी ने कुछ भी किया हो, कोई कुछ भी कर रहा हो, मुझे आदर्श जीवन जीना है— यह सोच ही विधायक भाव है। अणुव्रत मनुष्य के विधायक भावों को जगाने का एक प्रयास है। वह आदर्श की बात में नहीं, आचरण में विश्वास करता है।

प्रश्न हो सकता है कि अब तक अणुव्रत से कितने लोगों को रोशनी मिली? कितने लोग सत्य पर आए? कितने व्यक्तियों की जीवनशैली बदली? इन प्रश्नों के समाधान में आंकड़े प्रस्तुत करना मेरा लक्ष्य नहीं है। आंकड़ों की संस्कृति ने कोई बड़ा काम किया है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किसने क्या किया? और उसका परिणाम क्या आया? इस उलझन से ऊपर उठकर हर व्यक्ति आत्मविश्लेषण करे, आत्मसंशोधन करे और अपने जीवन के रूपान्तरण से विधायक वातावरण का निर्माण करे। अणुव्रत की यही प्रेरणा व्यक्ति के माध्यम से समाज निर्माण और राष्ट्रनिर्माण का सपना सत्य कर सकेगी।

४३. पुरुषार्थ निर्माता है भाग्य का

पुरुषार्थ और भाग्य—ये दो विरोधी ध्रुव हैं। पुरुषार्थ कर्म की प्रेरणा है। भाग्य अदृष्ट की अग्राधना है। परिणाम आए या नहीं, पुरुषार्थी कर्म में संलग्न रहता है। भाग्यवादी कुछ भी करता है, उसमें अपने कर्तृत्व का अनुभव नहीं करता। अपने सफल पुरुषार्थ को भी वह भाग्य का अवदान मानता है। कुछ लोग देववाद में विश्वास करते हैं। अमुक देव की पूजा करने से व्यक्ति की सब कामनाएं सफल हो जाती हैं, इस अवधारणा के आधार पर मन्दिरों में परिक्रमा करने वालों की संख्या में वृद्धि हो रही है। भाग्यवाद और देववाद के साथ एक नया वाद और पनप रहा है—ज्योतिषवाद। भाग्य और देव की तरह ज्योतिष के प्रति भी लोगों में अन्धश्रद्धा सघन होती जा रही है।

ज्योतिष एक विद्या है, यह सत्य है। ज्योतिष के आधार पर जन्मकुण्डली बनाई जाती है। जन्मकुण्डली देखकर वर्ष भर के लाभ-अलाभ बताए जाते हैं। बताई गई सब बातें यथार्थ ही हों, जरूरी नहीं है। संभवतः जातक के जन्म का समय सही नहीं हो, ज्योतिषी का ज्ञान सही नहीं हो, कुण्डली देखते समय चित्त एकाग्र न हो अथवा और कोई कारण हो, ज्योतिषविद्या की सचाई के आगे प्रश्नचिह्न लगते जा रहे हैं। बावजूद इसके ज्योतिषियों के प्रति अन्धश्रद्धा बढ़ी है। कुछ लोग तो उन्हें भगवान् मानकर उनके द्वारा कही गई प्रत्येक बात पर विश्वास कर लेते हैं और मन्दिरों की तरह उनके घर या कार्यालय की परिक्रमा करते रहते हैं।

कुछ ज्योतिषी पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन देते हैं। उनमें अपने टेलीफोन नम्बर बता देते हैं। उस नम्बर पर फोन करके भविष्य जानने का आकर्षण उत्पन्न करते हैं। सबसे अधिक विकसित मस्तिष्क वाले मनुष्य का चिन्तन कितना बीना होता है कि वह उनकी बातों में आ जाता है और पानी की

पुरुषार्थ निर्माता है भाग्य का : ६९

तरह पैसा बहा देता है। सवाल केवल पैसे का ही नहीं है, इस प्रकार की मनोवृत्ति से मनुष्य श्रमपराङ्मुख होता है। बिना पुरुषार्थ किए सफलता पाने की मानसिकता रुग्ण मानसिकता है। संयोगवश किसी व्यक्ति को सफल होने का अवसर उपलब्ध हो सकता है, किन्तु अधिकांश व्यक्ति ऐसी त्रासदी से गुजरकर कहीं के नहीं रहते।

भारतीय लोगों में यह परम्परा रही है कि वे बच्चे के जन्म का समय लिखकर रखते हैं। उसके आधार पर जन्मकुण्डली बनवाते हैं। पर विगत कुछ समय से एक नई शैली विकसित होती जा रही है। उसके अनुसार जन्म के लिए मुहूर्त पहले देखा जाता है। किस मुहूर्त में उत्पन्न बच्चा क्या बनेगा, यह बात ज्योतिषियों के माध्यम से पहले ज्ञात कर ली जाती है। फिर डॉक्टर को निर्देश दिया जाता है कि इतने बजकर इतने मिनट पर उन्हें बच्चा चाहिए। डॉक्टर ऑपरेशन करते हैं और पहले से तयशुदा क्षण में बच्चे का जन्म करवा देते हैं। जिस प्रकार अन्य विशेष कार्यों को सम्पादित करने से पहले अच्छा समय देखा जाता है, शुभ समय की प्रतीक्षा की जाती है, वैसे ही बच्चे के जन्म को समयबद्ध करना कैसी बुद्धिमत्ता है? भाग्य को बदलने का यह सीधा-सा तरीका कितना सफल हो पाया है? अनुसंधान का विषय है। पर इसका एक फलित निर्विवाद है कि मनुष्य पुरुषार्थहीनता की दिशा में अग्रसर होगा।

भारतीय जीवनशैली पुरुषार्थ से भावित जीवनशैली रही है। कर्म और भाग्य के तटबन्ध कितने ही मजबूत हों, जीवन-सरिता को प्रवाहित रहना पड़ेगा। प्रवाह से अलग होने वाला जल या तो अपने अस्तित्व को समाप्त कर देता है अथवा एक स्थान पर स्थिर होकर सड़ने लगता है। निर्झर हो या नदी, उसकी गतिमयता ही उसको निर्मल बनाकर रखती है। पुरुषार्थ ही मनुष्य के व्यक्तित्व को नया निखार देता है। पुरुषार्थहीनता भविष्य को अन्धकार में धकेलने का स्पष्ट संकेत है।

४४. संघर्ष की दिशाएं

यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। इसमें चेतन और अचेतन दो तत्त्व हैं। चेतन तब तक ही संसार में रहता है, जब तक वह अचेतन से सम्बद्ध रहता है। अचेतन से सम्बन्ध छूटते ही चेतन द्वन्द्वमुक्त हो जाता है, अपने स्वरूप को उपलब्ध हो जाता है। द्वन्द्वमुक्त चेतना साधक का लक्ष्य होता है। हर व्यक्ति साधनाशील नहीं होता। इसीलिए चेतना को द्वन्द्वमुक्त बनाने की दिशाएं सहज रूप में उद्घाटित नहीं हो पातीं।

मनुष्य का जीवन भी द्वन्द्वात्मक होता है। द्वन्द्व के दो रूप होते हैं—चिन्तनगत और व्यवहारगत। द्वन्द्व की उद्भवभूमि मनुष्य का मन है। मन में द्वन्द्व होता है तभी वह व्यवहार में उतरता है। मन निर्द्वन्द्व हो तो व्यवहार के धरातल पर उसके पदचिह्न अंकित नहीं होते। किन्तु बहुत कठिन है मन को द्वन्द्वातीत बनाना। अकेला व्यक्ति भी अनेक प्रकार के द्वन्द्वों से घिर जाता है, फिर समूह की तो बात ही क्या? परिवार, समाज, संस्था, दल और वर्ग से बंधे हुए व्यक्ति अनेक प्रकार के द्वन्द्वों को निमन्त्रण देते हैं और उनकी मार से आहत होकर व्यथा का भार ढोते हैं।

द्वन्द्व का अर्थ है संघर्ष। उसके दो रूप हैं—अन्तरंग और बहिरंग। बहिरंग संघर्ष को सहना इतना कठिन नहीं है। उसे सहा जा सकता है और खुले रूप में उसका मुकाबला भी किया जा सकता है। अन्तरंग संघर्ष को झेलना अधिक कठिन होता है। अंतरंग संघर्ष स्थिति को इतना जटिल बना देता है कि उसके समाधान का सूत्र ही हाथ से फिसल जाता है। कभी-कभी वह रेशम की गांठ बन जाता है। उससे खोलने के लिए जितना प्रयत्न होता है, वह उतनी ही उलझती चली जाती है।

किसी संगठन या दल में अन्तरंग संघर्ष या विरोध की स्थिति उत्पन्न

होती है तो वह उसी के लिए अहितकर होती है। किन्तु जो संगठन या दल राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है, पूरे राष्ट्र का दायित्व संभालने वाला होता है, उसके भीतर यदि रचनात्मक सोच की कमी आती है, पारस्परिक वैमनस्य का बीजवपन होता है, एक-दूसरे पर छींटाकशी होती है, तो उससे पूरे राष्ट्र की चेतना प्रभावित होती है। उसका नुकसान पूरे राष्ट्र को झेलना पड़ता है। कोई संगठन हो, उसमें विभिन्न रुचियों वाले व्यक्ति होते हैं। रुचिभेद विचारभेद को जन्म देता है। यहां तक स्थिति उलझती नहीं। जब विचारभेद मनोभेद का सर्जक बन जाता है और आपसी उठापटक का क्रम प्रारम्भ हो जाता है, वहां अहित की संभावना को टाला नहीं जा सकता। व्यक्तिगत स्वार्थ को साधने का मनोभाव और स्वार्थ न साधने पर निम्न स्तर के विरोध का उद्भाव—ये दोनों ही स्थितियां राष्ट्रीय हितों पर प्रहार करने वाली हैं।

राष्ट्र के सामने अनेक समस्याएं रहती हैं। उनके समाधान का दायित्व राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक—सभी संगठनों पर है। सत्तारूढ़ दल इस दायित्व से दोहरा प्रतिबद्ध होता है। वह अपनी अन्तरंग स्थिति से ही नहीं निपट पाया तो राष्ट्र को कैसे संभालेगा? जहां तक एक ही व्यक्ति अपने दल का नेता हो और राष्ट्र का भी नेता हो, वहां उस पर कितना बोझ रहता है; कल्पना की जा सकती है। जहां दल और राष्ट्र का नेता अलग-अलग हो, वहां भी कठिनाई कम नहीं रहती। नीति-भेद के कारण किसी योजना को अमलीजामा पहनाने से पहले ही वह फेल हो जाता है। ऐसी स्थिति में सत्तारूढ़ दल के लोगों का नैतिक दायित्व है कि वे व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए दल के हितों का विघटन न करें और दलीय स्वार्थ के लिए राष्ट्रीय हितों को विघटित न होने दें। अणुव्रत के मंच से उनको सही दिशा उपलब्ध हो सकती है, बशर्ते वे राष्ट्रहित को प्रमुख मान सब प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर एकता के अश्व की लगाम थामकर चलने का संकल्प लें।

४५. शिक्षा और संस्कार

शिक्षा एक प्रकार की जन्मघुट्टी है। जन्म के साथ ही बच्चे का जन्मघुट्टा दी जाती है। विज्ञान के अनुसार जीन्स में व्यक्तित्व के बीज निहित हैं। जनप्रवाद जन्मघुट्टी में व्यक्तित्व की संभावनाएं देखता है। जन्मघुट्टी देने वाले व्यक्ति के गुण-दोषों का संक्रमण बच्चे में होता है, यह भी एक मान्यता रही है। जन्मघुट्टी क्या है ? कैसे दी जाती है ? कौन देता है ? कैसे देनी चाहिए? आदि मुद्दों को लेकर कभी कोई आयोग नहीं बैठा। जन्म के बाद बच्चे को मां का दूध मिलता है। उसके बारे में आज तक कभी कोई वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है क्या ? मां के दूध में कौन-से तत्त्व होते हैं? उसमें और क्या मिलाना चाहिए? आदि प्रश्नों पर कभी कोई व्यापक बहस हुई हो, सुनने या पढ़ने में नहीं आया। मां का दूध बच्चे के लिए प्राकृतिक खुराक मानी गई है। उससे बच्चे का पोषण होता है। जो माताएं आधुनिक कहलाने के व्यामोह में बच्चे को अपने दूध से वंचित रखती हैं, वे उसके हितों का विघटन करती हैं, ऐसा भी कहा जाता है।

शिक्षा की जन्मघुट्टी या मां के दूध से तुलना की जाए तो उसे तर्क-वितर्कों और वितण्डावादों में क्यों उलझाया जाता है? भारत की आजादी के बाद शिक्षा के विषय में कितने आयोग बैठे, कितनी रिपोर्टें बनीं, प्रश्न आज भी ज्यों का त्यों उलझा हुआ है। कहीं आयोग काम नहीं करते। कहीं रिपोर्ट नहीं बनती। कहीं रिपोर्ट पढ़ी नहीं जाती। कहीं उसकी क्रियान्विति नहीं होती। अ से लेकर ह तक कहीं कुछ भी नहीं होता। तब फिर एक आयोग बैठता है। अब तक कहीं कुछ क्यों नहीं हुआ, यह समीक्षा करने के लिए बैठने वाला आयोग भी जब

शिक्षा और संस्कार : ६५

अतीत के क्रम को दोहरा देता है, तब उससे क्या आशा की जाए? कैसा आश्वासन पाया जाए ? और शिक्षा को जीवन के साथ कैसे जोड़ा जाए?

मेरा परामर्श तो यह है कि शिक्षापद्धति की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए अब कोई नया आयोग न बैठे। एक के बाद एक शृंखलाबद्ध गोष्ठियों और सेमिनारों का आयोजन भी न हो। हो तो एक ऐसी संगोष्ठी हो, जिसमें वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, शिक्षाशास्त्री, शिक्षक, साहित्यकार, राजनीतिक और सामाजिक व्यक्तियों का उचित प्रतिनिधित्व हो। सब लोग मिलकर भारत की आकांक्षाओं, जरूरतों और बुनावट को ध्यान में रखकर कोई ऐसा सर्वमान्य निर्णय लें, जिसकी क्रियान्विति में किसी प्रकार की बाधा न हो। इस पृष्ठभूमि पर जो भी निर्णय होगा, वह मूल्याधारित शिक्षा के प्रश्न को अनदेखा नहीं करेगा।

मूल्य क्या है? जो जीवन के मूलभूत तत्त्व हैं, उन्हीं का नाम मूल्य है। जो जीवन को बनाने या संवारने वाले मौलिक तत्त्व हैं, उन्हीं का नाम मूल्य है। जहां मौलिकता समाप्त हो जाती है, वहां विजातीय तत्त्वों को खुलकर खेलने का मौका मिल जाता है। सरलता, सहनशीलता, कोमलता, अभय, सत्य, करुणा, धृति, प्रामाणिकता, संतुलन आदि ऐसे गुण हैं, जिनको जीवन-मूल्यों के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। एक शिक्षित व्यक्ति के जीवन में उक्त मूल्यों का समावेश नहीं होगा तो इनको कहां खोजा जाएगा ? मुझे आश्चर्य है कि मूल्यपरक शिक्षा की बात अब सामने आई है। क्या अब तक जीवन-मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जाती थी ?

जिस समय शिक्षा के साथ मूल्यों के समावेश की चर्चा ही नहीं थी, उस समय भी इस देश की नानियां और दादियां अपने नातियों को कहानी-किस्सों के माध्यम से अच्छी बातें सिखाती थीं। मुझे भी बचपन में कहानी सुनने का शौक था। सभी बच्चों को रहता होगा। पर आज उन कहानियों का स्थान टी. वी. सीरियलों और कोमिक्स ने ले लिया है। उनके द्वारा जो संस्कार परोसे जाते हैं, वे ही जीवन को प्रभावित करते हैं। जैसी संगत वैसी रंगत—यह कहावत गलत नहीं है। संगत के कारण एक तोता

६६ : दीये से दीया जले

आगन्तुकों का स्वागत करता है और दूसरा उन्हें लूटने की सलाह देता है। विद्यार्थियों के जीवन में मूल्यहीनता की समस्या का स्थायी समाधान है—अध्यापकों और अभिभावकों के जीवन में बोलते मूल्य। समाज और परिवार में प्रतिष्ठित मूल्यों को ही शिक्षा के माध्यम से संप्रेषित किया जा सकता है।

४६. जीवन का बुनियादी काम

एक महत्त्वाकांक्षी युवक ने भावी जीवन की विस्तृत रूपरेखा बनाई। विकास की अनेक योजनाएं बनाकर वह अपने गुरु के पास गया। उसने अपनी फाइल गुरु को सौंपते हुए कहा— 'गुरुदेव ! मैंने अपना भावी कार्यक्रम निर्धारित किया है। मैं आपसे मार्गदर्शन लेने आया हूँ। इन योजनाओं की क्रियान्विति के लिए मुझे प्राथमिक रूप में क्या तैयारी करनी है?'

गुरु ने शिष्य की योजनाओं पर एक विहंगम दृष्टि डाली। फाइल उसे लौटाकर वे बोले—'इसमें प्रथम योजना का कोई उल्लेख ही नहीं है। जब तक वह पूरी न हो जाए, और कुछ सोचना व्यर्थ है।' युवक अनमना हो गया। उसने पूछा—'गुरुदेव ! वह कौन-सी योजना है?' गुरु ने कहा—'वह योजना है स्वाभाव निर्माण और चरित्र निर्माण की। जब तक स्वाभाव और चरित्र का निर्माण नहीं होता, कोई व्यक्ति बड़ा आदमी नहीं बन सकता।'

वर्तमान युग की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि मनुष्य सब कुछ बनना चाहता है, पर मनुष्य बनने की बात नहीं सोचता। वह नित नई योजनाओं का निर्माण करता है, पर चरित्र-निर्माण की योजना बनाने के लिए उसके पास समय नहीं होता। वह अपने आसपास रहने वाले सब लोगों में बदलाव देखना चाहता है, पर अपने स्वभाव को बदलने का संकल्प नहीं करता। वह सबको अपने अनुकूल बनाने का सपना संजोता है, पर स्वयं किसी के अनुकूल होने की मानसिकता नहीं बनाता। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति कैसे होगी?

चरित्र निर्माण जीवन का बुनियादी काम है। इसके लिए चरित्रनिष्ठ व्यक्तियों का संपर्क आवश्यक है। चरित्र को उदार बनाने वाले कार्यक्रमों को समझना और उनमें अपनी सक्रिय भागीदारी रखना जरूरी है। पर समस्या

६८ : दीये से दीया जले

है समय की। आज की जीवनशैली इतनी कसी हुई है कि चरित्र की चर्चा या अभ्यास के लिए समय ही नहीं रहता। माना कि आदमी व्यस्त है। यह व्यस्तता किसके सामने नहीं है? हर आदमी को चौबीस घण्टे का समय मिलता है। हर व्यक्ति का वर्ष तीन सौ साठ या पैसठ दिनों का होता है। समय जितना है, उतना ही है। सवाल है उसके नियोजन का। मनुष्य समय की नियमितता को अपना आदर्श बना ले तो उसके बहुत-से अधूरे काम पूरे हो सकते हैं।

अणुव्रत चरित्र निर्माण का आन्दोलन है। इसकी आकांक्षा एक सही मनुष्य के निर्माण की है। मनुष्य का निर्माण करने के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन करना होगा। चिन्तन और अचिन्तन का संतुलन करना होगा। वाक् और मौन का संतुलन करना होगा। आवश्यकताओं और आकांक्षाओं का संतुलन करना होगा। संतुलन का आधार है संयम। संयम की साधना अखण्ड रूप में हो सकती है और खण्ड-खण्ड करके भी हो सकती है। अखण्ड संयम की आराधना हर व्यक्ति के वश की बात नहीं है। पर खण्ड-खण्ड में संयम का पालन कोई भी कर सकता है।

अणुव्रत का उद्देश्य भी यही है कि छोटे-छोटे संकल्पों की सोपान पर आरोहण करता हुआ मनुष्य संयम के शिखर का स्पर्श करे। जब तक संयम या चरित्र के प्रति आस्था है, तब तक मनुष्य बुराई से बचने का प्रयास करता रहेगा। जिस दिन आस्था का धागा टूट जाएगा, जीवन का कोई क्रम नहीं रह पाएगा। उपासना को गौण और चरित्र को मुख्य मानने वाला यह आन्दोलन मानव जाति के लिए एक दिशादर्शन है। चरित्र निर्माण का लक्ष्य और उस दिशा में प्रस्थान—इसी क्रम से व्यक्ति अपनी चारित्रिक संपदा को सुरक्षित और वृद्धिगत रख पाएगा।

४७. साफ आईना : साफ प्रतिबिम्ब

स्वस्थ जीवन का आधारभूत तत्त्व है 'सम्यक् दृष्टिकोण'। जीवन जीना और सम्यक् दर्शन के साथ जीना— इन दोनों स्थितियों में बहुत अन्तर है। जीते तो सभी हैं, किन्तु सही दृष्टि, सही लक्ष्य, सही दिशा और सही गति के साथ जीना उपलब्धियों के साथ जीना है। दृष्टि सही नहीं होगी तो सही लक्ष्य का निर्धारण कैसे होगा? लक्ष्य निर्धारित किए बिना सही दिशा में प्रस्थान की संभावना ही क्षीण हो जाएगी। लक्ष्य स्पष्ट हो गया, किन्तु दिशा उलटी हो गई तो लक्ष्य की दूरी कैसी सिमटेगी? दिशा सही है, पर चरण गतिशील नहीं हैं तो 'घाणी के बैल' की तरह किसी एक ही केन्द्रबिन्दु की परिक्रमा होती रहेगी।

मनुष्य बहुत समझदार प्राणी है। वह बैल को कोल्हू में जोतता है तो उसकी आंखों पर पट्टी बांध देता है। क्यों? उसे यह अहसास न हो कि वह निरन्तर एक ही स्थान पर चक्कर लगा रहा है। पशुविज्ञानियों का अभिमत है कि यदि बैल को उक्त तथ्य ज्ञात हो जाए तो वह उसी समय गश खाकर गिर पड़े। मनुष्य की भी यही स्थिति है। वह निरन्तर गतिशील रहकर भी लक्ष्य की दूरी को एक इंच भी कम नहीं कर पाएगा, यदि उसका दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है। इसलिए जरूरी है जीवन में सम्यक् दर्शन। मोक्ष का आरक्षण इसी तत्त्व के सहारे से संभव है।

सम्यक् दर्शन क्या है? जीवन के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण का विकास कैसे हो सकता है? जीवन का लक्ष्य क्या है? निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के उपाय क्या हैं? लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में प्रस्थित होने पर भी गत्यवरोध क्यों होता है? क्या अवरोध को तोड़ा जा सकता है? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं, जो जिज्ञासु लोगों के मस्तिष्क में कौंधते रहते हैं।

१०० : दीये से दीया जले

हर चिन्तनशील व्यक्ति आगे बढ़ने के लिए अपने सामने एक आदर्श को प्रस्थापित करना चाहता है। आदर्श, पथदर्शक और पथ की सम्यक् अवधारणा ही सम्यक् दर्शन है। दूसरे शब्दों में विधायक दृष्टिकोण का नाम सम्यक् दर्शन है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण को सम्यक् बनाने के लिए एक जीवनशैली के निर्धारण और प्रशिक्षण की अपेक्षा है। सामान्यतः हर व्यक्ति स्वस्थ और शक्तिसंपन्न जीवन जीना चाहता है। इस चाह की पूर्ति के लिए सम्यक् दर्शन की नितान्त आवश्यकता है। सम्यक् दर्शन की पहचान कराने के लिए पांच पैमाने निर्धारित किए गए हैं :

- क्रोध, अभिमान, छलना, लोभ आदि आवेगों का उपशमन।
- लक्ष्य की दिशा में गतिशील रहने का रुझान।
- जीवन को अभिशप्त बनाने वाली मनोवृत्तियों से वैराग्य।
- मन में संवेदनशीलता और व्यवहार में करुणा।
- सबके अस्तित्व में आस्था।

मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व को मांपने वाले ये पैमाने सम्यक् दृष्टिकोण की कसौटियां हैं तो जीवनशैली को बदलने वाले महत्वपूर्ण घटक हैं। आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मनियंत्रण के आधार पर लक्ष्य की दिशा में होने वाले गत्यवरोध को तोड़ा जा सकता है।

मनुष्य अपनी दो आंखों से जगत् के स्थूल पदार्थों को देखता है। आंखें कभी उसे धोखा दे सकती हैं। आंखों देखा सच भी कभी-कभी झूठ प्रमाणित हो सकता है। किन्तु सम्यक् दृष्टिकोण ऐसा तत्त्व है, जो अन्तर्दृष्टि के धुंधलेपन को दूर करता है। आईना साफ होता है तो प्रतिबिम्ब भी साफ आता है। इसी प्रकार दृष्टिकोण सम्यक् है तो जीवन का क्रम भी सम्यक् और व्यवस्थित हो सकता है।

४८. संन्यास परम्परा और ज्ञान की धारा

भारतीय संस्कृति में संन्यास की परम्परा बहुत गरिमापूर्ण रही है। इसे जीवन के उदात्तीकरण की प्रक्रिया माना गया है। साधारण-से-साधारण और महान्-से-महान् सभी व्यक्तियों के लिए संन्यास का रास्ता मुक्त रखा गया है। आश्रम व्यवस्था के अनुसार इसे जीवन का एक अपरिहार्य हिस्सा माना गया है। जैन परंपरा में संन्यास के लिए जीवन के सान्ध्यकाल तक प्रतीक्षा करने का विधान नहीं है। उपनिषद कहते हैं कि जिस दिन विरक्ति हो, उसी दिन प्रव्रज्या के पथ पर अग्रसर हो जाना चाहिए। बौद्धधर्म मानता है कि कुछ समय के लिए ही सही, जीवन में एक बार संन्यास लेना आवश्यक है।

जैनधर्म में संन्यास की कल्पना अन्य परम्पराओं से बहुत भिन्न है। व्यक्ति संसार में रहे, पर संसार उसके मन में न रहे, यह संन्यास की एक परिभाषा है। घर, परिवार और परिग्रह का त्याग कर एक अकिंचन मुनि का जीवन जीना भी संन्यास है। इस परिभाषा के अनुसार मुनि अत्यन्त सीमित साधनों से जीवनयापन करता है और अपना पूरा जीवन धर्म, अध्यात्म या मानवता की सेवा में समर्पित करके रहता है। ऐसे व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के गौरव होते हैं और सब प्रकार से निश्चिन्त होकर विकास की नई खिड़कियाँ खोलते हैं।

संसार में जितने विशिष्ट व्यक्ति हुए हैं, उनमें संन्यासियों की एक लम्बी सूची है। ज्ञान के अपूर्व स्रोत खोलने वाले संन्यासी ही हुए हैं। वेदव्यास हों चाहे उमास्वाति, जिनभद्र हों या हरिभद्र। इस श्रेणी से अनेक व्यक्तित्व जुड़े हुए हैं। उनके द्वारा बहाई गई ज्ञानधारा में हम आज भी अभिष्णात हो रहे हैं। ज्ञान और चरित्र की उज्ज्वल आभा को देख इस दिशा में आकर्षण होना स्वाभाविक है। किन्तु ऐसा लगता है कि प्रवाह उलटा बह रहा है। युवा

१०२ : दीये से दीया जले

पीढ़ी के लोगों की अध्यात्म या संन्यास के क्षेत्र में रुचि कम हो रही है या समाप्त हो रही है। उन्हें अर्थ ही अर्थ दिखाई दे रहा है। अर्थ जीवनयापन का साधन है, यह कोई नई बात नहीं है। मनुष्य अर्थ के बिना भी जी सकता है, अच्छे ढंग से जीवनयापन कर सकता है। यह विलक्षण अवधारणा है। इसके द्वारा संयम, त्याग या संन्यास के पथ पर गति होती है। इस ओर से आंख मूंद लेना देश के हित में कैसे होगा?

मनुष्य अर्थ के अर्जन और संग्रह की स्पर्धा में खड़ा है। इस स्पर्धा में कोई भी खड़ा हो सकता है। पर परिग्रह के विसर्जन की स्पर्धा में कौन खड़ा हो सकता है? एक सेठ ने अभूतपूर्व दान देने का निर्णय लिया। उसने सोने की चौकी बनवाई। उस पर हीरे-मोती सजाए। एक ब्राह्मण को आमंत्रित कर सेठ बोला—‘ब्राह्मण देवता ! यह चौकी मैं आपको देता हूँ। ऐसा दान कहीं देखा है आपने?’ यह बात सुन ब्राह्मण का स्वाभिमान जागा। उसने अपनी जेब से दो रुपए निकाले। उस चौकी पर रखे और कहा—‘मैं इस चौकी का विसर्जन करता हूँ, त्याग करता हूँ। सेठ साहब ! आपने ऐसा त्याग कहीं देखा है?’ सेठ का सिर लज्जा से झुक गया। ऐसे प्रसंग में ‘आयारो’ का सूक्त आंखों के सामने आ जाता है—अस्थि सत्थं परेण परं, ण्ठि असत्थं परेण परं—हिंसा में परंपरा चलती है। अहिंसा में कोई परंपरा नहीं है। हिंसा हो या परिग्रह, उसमें होड़ चल सकती है। अपरिग्रह में होड़ नहीं चलती। अपरिग्रह का मार्ग ही संन्यास का मार्ग है।

संन्यास न पलायन है और न रूढ़ि है। यह एक साहसिक अभियान है। इस अभियान के लिए घर का त्याग कर चलने वाले कुंठा, तनाव, हीनभावना, असंतोष आदि युगीन बीमारियों से मुक्त रहते हैं। उनके सामने ये समस्याएं क्यों नहीं रहती हैं? अनुसंधान किया जाए तो कुछ कारण स्पष्ट हैं। तनाव, असंतोष आदि का कारण है—इच्छाओं का विस्तार, एषणाओं का विस्तार और संग्रह की धुन। संन्यास का पथ अनिच्छा, अनेषणा और असंग्रह की ओर ले जाने वाला है। इस पथ पर बढ़ने वाले युगीन बीमारियों से आक्रान्त क्यों होंगे?

अध्यात्म भारतीय संस्कृति का आधार है। इसे सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नपूर्वक संन्यास की परंपरा को सुरक्षित रखने की अपेक्षा है।

संन्यास परम्परा और ज्ञान की धारा : १०३

संन्यास की परंपरा का लोप देश के दुर्भाग्य का सूचक है। शास्त्रों में बताया है कि मुनि सारे संसार को अभय देने वाला होता है। एक मुनि की हत्या अनन्त जीवों की हत्या के बराबर है। वह देश सौभाग्यशाली होता है, जहां अहिंसा, अपरिग्रह आदि महाव्रतों का पालन करने वाले संन्यासी साधना करते हैं। संन्यास-परंपरा की महत्ता को ध्यान में रखकर इसकी सुरक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए सलक्ष्य अभिक्रम किया जाए तो भावी खतरों से बचा जा सकता है।

१०४ : दीये से दीया जले

४६. सापेक्षता है संजीवनी

भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले सापेक्षता का सिद्धान्त दिया। उन्होंने कहा—‘वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। वे सब धर्म सापेक्ष रहकर ही अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर सकते हैं। व्यक्ति भी अनन्त धर्मों का समवाय है। उसमें विरोधी युगलों की सत्ता है। वह सापेक्षता के सिद्धान्त को समझ ले तो उसके जीवन में कहीं कोई उलझन नहीं आ सकती। सामूहिक जीवन में तो सापेक्षता के बिना एक कदम उठाना भी कठिन है।’ भगवान् महावीर का यह सिद्धान्त उस समय प्रासंगिक था। आज उसकी प्रासंगिकता बहुगुणित होती जा रही है।

परिवार, पार्टी, संघ, संस्थान कोई भी समूह हो, उसके सदस्य जितने सापेक्ष रहेंगे, संगठन उतना ही मजबूत होगा। आज चारों ओर बिखराव की स्थिति है। परिवार बिखर रहे हैं। दल टूट रहे हैं। धर्मसंघों में एकरूपता नहीं है, संस्थानों में व्यवस्थाएं ठीक नहीं हैं। कारण क्या है? अनेक कारण हो सकते हैं। निरपेक्षता सबसे बड़ा कारण है। हम पीया, हमारा बैल पीया, अब चाहे कुआं ढह पड़े—सामूहिक चेतना में यह कैसी मनोवृत्ति? यदि हमारा पड़ोसी दुःखी है तो क्या उसका प्रभाव हम पर नहीं होगा? व्यक्ति की स्वार्थ-चेतना को जब तक परार्थ या परमार्थ की दिशा नहीं मिलेगी, वह सापेक्ष होकर नहीं जी पाएगा।

एक ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने पास-पड़ोस में किसी का विकास देखना नहीं चाहता था। उसकी यह आकांक्षा थी कि उसका कोई भी पड़ोसी किसी भी क्षेत्र में उससे आगे न बढ़े। एक बार उसने किसी देवी की आराधना की। देवी प्रसन्न हुई। पर उसने एक शर्त रखी कि वह अपने लिए जो कुछ चाहेगा उसके पड़ोसी को उससे दुगुना मिलेगा। एक मकान, एक खेत, एक

सापेक्षता है संजीवनी : १०५

कार आदि उसने मांगा। उसे मिला। किन्तु पड़ोसी की संपदा दुगुनी हो गई। यह बात उसके लिए असह्य थी। पड़ोसी का सुख-चैन छीनने के लिए उसने देवी से एक वरदान मांगा—‘मेरी एक आंख फूट जाए।’ उद्देश्य क्या था ऐसे वरदान का? पड़ोसी की दोनों आंखें ज्योतिविहीन हो जाएं। कितनी निरपेक्षता ! कितनी क्रूरता ! निरपेक्ष व्यक्ति जितना क्रूर होता है, सापेक्ष व्यक्ति कभी नहीं हो सकता।

परिवार, पार्टी या संघ में जिन व्यक्तियों को अनपेक्षित समझा जाता है, उनमें कोई कमी हो सकती है। वैसे इस संसार में पूर्ण कौन है? यदि प्रमाद करने वाले लोगों के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाएगा तो इस धरती पर बचेगा कौन?

स्खलितः स्खलितो वध्य, इति चेन्निश्चितो भवेत्

द्वित्रा एव हि शिष्येरन्, बहुदोषा हि मानवाः॥

जो-जो स्खलना करे, वह वध्य है, यह बात निर्णीत हो जाए तो इस धरती पर दो-तीन व्यक्ति ही सर्वथा निर्दोष होकर बच पाएंगे। क्योंकि मनुष्य गलतियों का पुतला है। बहुत संभलकर चलने पर भी कहीं-न-कहीं स्खलना हो जाती है।

भारतीय संस्कृति सापेक्षता की संस्कृति है। यहां वयस्क सन्तान माता-पिता के साये में रहना चाहती है और उनके वृद्ध हो जाने पर भी उनकी सेवा को अपना कर्तव्य मानती है। इसी प्रकार माता-पिता योग्य बच्चों की तरह अयोग्य और अपाहिज सन्तान पर भी अपना ममत्व उंडेलते रहते हैं। यही तो सापेक्षता है। जो परिवार, दल और सम्प्रदाय सापेक्षता की डोर में बंधे रहेंगे, उनके अस्तित्व पर कभी खतरे के बादल नहीं मंडरायेंगे। जहां सापेक्षता होगी, वहां क्रूरता नहीं आ सकेगी। जहां सापेक्षता होगी, वहां केवल स्वार्थचेतना का विकास नहीं होगा। जहां सापेक्षता होगी, वहां नीरसता नहीं होगी। मानसिक कुंठा, घुटन और टूटन के इस युग में सापेक्षता ही वह संजीवनी है, जो व्यक्ति को आत्मतोष दे सकती है और समूह में समायोजित कर सकती है।

५०. संस्कृति तब और अब की

एक समय था, जब बच्चों को नींद से जगाने के लिए प्रभाती गाई जाती थी। इस युग की मां बच्चे को जगाने के लिए कहती है—गेट अप, हरि अप, बाथ टाइम, स्कूल टाइम आदि। मंत्र जाप और भगवत् स्मरण की प्रेरणाएं लुप्त होती जा रही हैं। पूज्यजनों और गुरुजनों के सामने हाथ जोड़ने और उनके चरणों में झुककर प्रणाम करने की परम्परा समय की परतों के नीचे दब रही है। हाथ मिलाना, टा-टा, वाय-वाय की संस्कृति पनप रही है। ऐसा करने वाले लोग अपने आपको आधुनिक मानते हैं। ऐसे लोगों में नवीनता का बढ़ता हुआ व्यामोह एक घुन है, जो धीरे-धीरे देश की सांस्कृतिक विरासत को खोखला कर रहा है।

प्राचीनता और नवीनता के बीच चल रहा संघर्ष नया नहीं है। पर यह स्थिति सुखद नहीं है। कोई भी परम्परा या वस्तु प्राचीन होने के कारण अप्रयोजनीय बन जाए, यह यौक्तिक बात नहीं है। नवीन होने के कारण हर परम्परा और वस्तु ग्राह्य है, यह चिन्तन बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं लगता। हमारे बारे में कहा जाता है कि हम नवीनता के पृष्ठपोषक हैं। किसी दृष्टि से यह बात ठीक भी है। किन्तु जिन प्राचीन परम्पराओं की उपयोगिता है, जो प्राचीन वस्तुएं काम की हैं, उनकी उपेक्षा को हमने कभी उचित नहीं समझा। हम कभी नहीं चाहते कि प्राचीन उपयोगी तत्त्वों के स्थान पर नई बातों को प्रतिष्ठित किया जाए।

विनय और अनुशासन भारतीय विद्या के मूल तत्त्व हैं। अध्यात्म विद्या इनके बिना आगे चलती ही नहीं। हमारे शास्त्र इन तत्त्वों से भरे पड़े हैं। शास्त्रों के सत्य जब तक जीवन से नहीं जुड़ते, उपयोगी नहीं बन सकते। लगता ऐसा है कि इन्हें जीवन से जोड़ने के स्थान पर जीवन से पोंछा जा

संस्कृति तब और अब की : १०५

रहा है। इनके पल्लवन की ओर ध्यान ही कम जा रहा है। एक विद्यार्थी की स्कूल से कॉलेज तक की यात्रा में ऐसे संस्कारों का कितना विकास हो पाता है? इस प्रश्न को सही ढंग से उत्तरित करना बहुत कठिन है। विद्यार्थी को प्रारंभ से ही विनय और अनुशासन के संस्कार उपलब्ध होते रहें तो उनकी जीवनशैली में बदलाव या सुधार हो सकता है।

पदार्थ, शिल्प, कला आदि के क्षेत्र में मनुष्य का दृष्टिकोण बदला है। अब वह प्राचीन वस्तुओं को आधुनिकता और फैशन के नाम पर स्वीकार कर रहा है। एक समय था, जब आम आदमी ग्राम्यजीवन जीता था। कालान्तर में सभ्यता को विकास की पगडंडियों पर धकेला गया। वेशभूषा बदली। आभूषण बदले। खाद्यपदार्थ बदले। जीवन के तौरतरिके भी बदले। नवीनता के व्यामोह में जो चीजें स्वीकृत हुईं, उनसे मन ऊब गया। फिर उसी दिशा में पांव बढ़ चले। इसे प्रगति कहा जाए या प्रतिगति? काश ! भारत अपनी सांस्कृतिक विरासत की सुरक्षा कर पाता। पर इस विषय में सोचे कौन? व्यापारी अपने लाभ की बात सोचते हैं। एजेन्ट अपना हित देखते हैं। नए लेबल और नए नाम से आकृष्ट होकर मनुष्य अपने अतीत में डग भर रहा है।

विनय और अनुशासन—जीवन के शाश्वत मूल्य हैं। इनकी उपेक्षा जीवन की उपेक्षा है। विद्यार्थियों में बढ़ती हुई उच्छृंखलता, परिवारों में हो रहा बिखराव, समाज में बढ़ता हुआ दिखावा और देश में पांव फैला रही अराजकता एक धुंधले भविष्य का संकेत है। यदि मनुष्य चाहता है कि उसके अतीत से वर्तमान बेहतर हो और वर्तमान से भविष्य बेहतर हो, तो उसे विनय और अनुशासन को जीवन के साथ जोड़ना होगा। तेरापंथ धर्मसंघ का मर्यादा-महोत्सव प्रतीक है विनय और अनुशासन का। इनके आधार पर ही संगठन का प्रासाद खड़ा रह सकता है, दीर्घजीवी बन सकता है। वस्त्रों और आभूषणों की तरह विनय और अनुशासन के संस्कार भी जीवन में लौट आएँ तो युग को नई दिशा मिल सकती है।

१०८ : दीये से दीया जले

५१. मन्दिर की सुरक्षा : आदर्शों का बिखराव

राम मंदिर और बाबरी मस्जिद को लेकर देश के सामने एक भीषण समस्या है। भारतीय लोकजीवन की आस्था के केन्द्र हैं मर्यादा पुरुषोत्तम राम। जन्मभूमि और मन्दिर पार्थिव तत्त्व हैं। राम के आदर्श सर्वथा अपार्थिव हैं। देखना यह है कि समस्या पार्थिव की है या अपार्थिव की? पार्थिव का अपना मूल्य है, पर अपार्थिव के सामने वह नगण्य-सा है। पार्थिव मन्दिर की सुरक्षा में राम के अपार्थिव आदर्श खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाएं, यह किसी भी रामभक्त के लिए स्वीकार्य नहीं होना चाहिए।

राम प्रागैतिहासिक महापुरुष हैं। रामायण पढ़ने वाले और सुनने वाले जानते हैं कि अयोध्या के कण-कण में राम रहे हुए थे। जन्म बहुत छोटे-से स्थान में होता है। पर उस गांव या नगर का पूरा क्षेत्र जन्मभूमि कहलाता है। अयोध्या में राम का जन्म किस स्थल पर हुआ? यह विवाद का विषय हो सकता है। पर अयोध्या राम की जन्मभूमि है, यह तथ्य निर्विवाद है। आज जो स्थान विवादास्पद बना हुआ है, वहां मंदिर कब बना और कब टूटा? शोध का विषय है। कहा जाता है कि बाबर ने वहां मस्जिद बनवाई। प्रश्न यह है कि जिस समय मस्जिद बनी, क्या उस समय उसके प्रतिरोध में आवाज उठी थी? यदि नहीं तो बाद में यह प्रश्न कब और क्यों उठा? ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिक प्रस्तुति आवश्यक है।

किसी भी इतिहास की ईमानदार खोज में समय लगता है। उसके लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वर्तमान की जो स्थिति है, लोगों का धैर्य टूट गया। वे विचलित हो गए। अधिक कालक्षेप को सहना संभव नहीं रहा। जनता का रुख आक्रामक हो गया। सौहार्द की बढ़ती हुई संभावनाओं

मन्दिर की सुरक्षा : आदर्शों का बिखराव : १०६

पर एक ब्रेक लग गया। भावनाओं के उफान पर सद्भाव के छींटे डाले गए। कार सेवा रुक गई या स्थानान्तरित हो गई। एक विस्फोट होते-होते रुक गया।

ध्यान से देखा जाए तो ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो संघर्ष में रस लेते हैं। वे देश को आमने-सामने खड़ा करने पर तुले हुए हैं। ऐसी स्थिति में नेतृत्व की परीक्षा होती है। नेतृत्व करने वालों का दिमाग शान्त और संतुलित होता है, तो वे स्थिति को हाथ से निकलने नहीं देते। भारतीय संस्कृति दमन और रक्तपात की संस्कृति नहीं है। इसमें आपसी प्रेम, भाईचारा, सौहार्द, समन्वय, सहिष्णुता आदि तत्त्वों का महत्त्व है। इस संस्कृति को ऐसे ही व्यक्तियों की अपेक्षा है, जो समय पर गहरी सूझबूझ से काम करें और अणी टाल दें।

कुछ लोग बार-बार न्यायालय की बात उठा रहे हैं। न्यायालय के फैसले की अपनी गरिमा है। पर क्या दोनों पक्ष मिल-बैठकर कोई रास्ता नहीं निकाल सकते? आपसी वार्तालाप से जो समाधान निकलेगा, उसमें हार-जीत की पैतरेबाजी नहीं होगी। वहां तो प्रेम का ऐसा दरिया बहेगा, जो भीतर के सारे कल्मष को धो-पोंछकर साफ कर देगा।

समझौते की पृष्ठभूमि में एक पक्ष को यह सोचना होगा कि उसके साथ कभी कुछ भी हुआ हो, वह अपनी निष्ठा में छेद नहीं होने देगा। जिन ऊंचे आदर्शों में उसका विश्वास है, उनको वह कभी विस्मृत नहीं होने देगा। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' यह नीति चलती होगी। पर धर्म के क्षेत्र में नहीं चलनी चाहिए।

दूसरे पक्ष के लिए चिन्तनीय बिन्दु यह है कि जिस धरती पर वह रहना चाहता है, अपनी पीढ़ियों को रखना चाहता है, उसके प्रति अपनेपन का भाव रखना होगा। बीज अपनी अस्मिता को मिटाता है, तभी धरती में अपनी जड़ें जमाता है। यदि वह अपने अस्तित्व को बचाने का प्रयास करेगा तो विस्तार नहीं पा सकेगा।

जो लोग समझौते के लिए माध्यम बन रहे हैं, उनका दायित्व है कि वे दोनों पक्षों को विश्वास में लेकर ऐसा रास्ता निकालें, जिससे भारतीय संस्कृति का गौरव अक्षुण्ण रह सके। हमारा विश्वास है कि देश की जैसी

संस्कृति और परंपरा रही है, अवांछनीय स्थिति टलेगी और समस्या का समाधान होगा। अपेक्षा एक ही है कि इसके लिए अनेकान्त पद्धति का आलम्बन लिया जाए।

मन्दिर की सुरक्षा : आदर्शों का बिखराव : १११

५२. खिलवाड़ मानवता के साथ

दो प्रकार की आपदाएं होती हैं—प्राकृतिक और कृत्रिम। आतवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, बाढ़, तूफान, ज्वालामुखी में विस्फोट और कुछ जानलेवा बीमारियां प्रकृति के असन्तुलन से होने वाली आपदाएं हैं। मनुष्य के उर्वर मस्तिष्क ने इन आपदाओं पर विजय पाने के उपाय खोजे हैं, पर उनका प्रतिशत बहुत कम है। प्रकृति के आगे मनुष्य भी अपने घुटने टिका देता है। मौसम विज्ञान की पर्याप्त सूचनाओं के बाद भी वह अपने आप में विवशता का अनुभव करता है, प्राकृतिक खतरों को टाल नहीं सकता। इसे निसर्ग या नियति कुछ भी माना जा सकता है।

कृत्रिम आपदाओं के तीन रूप हैं— तिर्यच योनि के जीव मनुष्य जाति के लिए अनेक प्रकार की आपदाएं उपस्थित कर देते हैं। कभी-कभी देव-प्रकोप से दुःसह मुसीबतें खड़ी हो जाती हैं। कुछ आपदाएं स्वयं मनुष्य के द्वारा सरजी जाती हैं। अपने हाथों अपने पांवों पर कुल्हाड़ी चलाने की बात कितनी उपहासास्पद लगती है। कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो उसकी गणना मूर्खों की श्रेणी में होती है। इस प्रकार का आचरण किसी का सुचिन्तित आचरण नहीं होता। चिन्तन के अभाव में अनायास ऐसा घटित हो जाता है। किन्तु सुचितित और सुनियोजित रूप से कोई भी मनुष्य ऐसा काम करता है, उसे क्या कहा जाए? बिना किसी विशेष उद्देश्य के व्यापक स्तर पर की जाने वाली तोड़फोड़ या नरसंहार को क्या माना जाए? जो मनुष्य ऐसा षड्यंत्र करता है, उसे किस कोटि में रखा जाए? देवत्व या मनुष्यत्व की तो उस पर छाया ही नहीं है। उसे तिर्यच या राक्षस कहने में भी संकोच होता है। ऐसे लोगों के बारे में कवि की कल्पना कितनी यथार्थ है—

११२ : दीये से दीया जले

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

इस संसार में स्वार्थ का परित्याग कर परोपकार करने वाले व्यक्ति पुरुषोत्तम होते हैं। जो स्वार्थ की क्षति किए बिना दूसरों का हित सम्पादन करते हैं, वे सामान्य जन होते हैं। जो लोग अपने स्वार्थ के लिए औरों के हितों का विघटन करते हैं, वे मनुष्य के शरीर में राक्षस हैं। किन्तु जो व्यक्ति बिना ही प्रयोजन दूसरों के हितों पर कुठाराघात करते हैं, उनको किस सम्बोधन से सम्बोधित करें, हमें ज्ञात नहीं है।

१२ और १६ मार्च ६३ को क्रमशः बम्बई और कलकत्ता में हुए बम-विस्फोट क्या राक्षसी मानसिकता से भी अधम मनोवृत्ति के परिचायक नहीं हैं? बम्बई में व्यवसाय के प्रमुख केन्द्रों और कलकत्ता के बऊ बाजार में जिस बड़े पैमाने पर बम-विस्फोटों की तथा अन्य कई क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में बम उपलब्ध होने की सूचनाएं मिल रही हैं, एक सुनियोजित षड्यंत्र की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन विस्फोटों से किस व्यक्ति या वर्ग का कौन-सा स्वार्थ सधा, समझ में नहीं आता।

निर्माण की कोई भी बड़ी योजना इतनी व्यवस्थित और गोपनीय ढंग से होती है, कहीं भी सुनने को नहीं मिला। ध्वंस की इतनी बड़ी योजना में कितने व्यक्ति सम्मिलित हुए, कितना समय लगा, फिर भी किसी को उसकी भनक तक नहीं मिली। क्या गुप्तचर विभाग की सभी एजेंसियां निश्चिन्त थीं? क्या वे किसी अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण खोज में संलग्न थीं? आज जनता की जुबान पर कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो बहुत गंभीर चेतावनी देने वाले हैं। बम्बई और कलकत्ता के ये हादसे इमारतों और मनुष्यों के विनाश की ही नहीं, मानवता के विनाश की कहानी कह रहे हैं।

बम-विस्फोटों की यह साजिश देश या विदेश के किसी भी व्यक्ति की हो, उसे राक्षस कहना भी कम लगता है। ऐसे व्यक्ति मनुष्यता के सिर पर कलंक का जो टीका लगाते हैं, क्या उसे कभी पोंछा जा सकेगा? प्रश्न बम्बई, कलकत्ता या हिन्दुस्तान का नहीं है। प्रश्न है ऐसी क्रूरतापूर्ण साजिशों का।

मनुष्य कम-से-कम इतना पतित तो न हो कि वह अकारण ही ऐसी विनाशलीला रच दे, जिसके संवाद ही संसार को हिलाकर रख दें। ऐसे कार्यो में संलग्न व्यक्ति इतना-सा तो सोच लें कि यह हादसा उनके साथ होता तो...। मेरा विश्वास है कि ऐसा संवेदन ही मनुष्य की दिशा को कोई वांछित मोड़ दे सकेगा।

५३. ध्वंस की राजनीति

ध्वंस और निर्माण—दोनों आवश्यक हैं। ध्वंस के बिना नए निर्माण की संभावनाएं कम हो जाती हैं। पर देखना यह है कि ध्वंस किसका और कहां हो? निर्माण के साथ भी कुछ अपेक्षाएं जुड़ी हुई हैं। मनुष्य में दो प्रकार के भाव होते हैं—विधायक और निषेधात्मक। रचनात्मक दृष्टिकोण, पोजिटिव थिंकिंग या विधायक भाव निर्माण के प्रतीक हैं। विघटन की मनोवृत्ति, नेगेटिव एटिट्यूड या निषेधात्मक भाव ध्वंस के प्रतीक हैं। निर्माण और ध्वंस के लिए उत्पाद और विनाश शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। ध्रौव्य तत्त्व उत्पाद और विनाश का सहचरी है। वस्तु की सत्ता त्रैकालिक है। वह निर्माण के बाद ही नहीं, ध्वंस के बाद भी अपने अवशेष छोड़ती है।

भारतीय संस्कृति उदारवादी संस्कृति है। वह सबको आत्मसात् करना जानती है। उसने अपनी धरती पर अन्य संस्कृतियों को बद्धमूल होने का अवसर दिया है। भारतीय दार्शनिकों ने नास्तिक मत को भी एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में मान्यता देकर प्रमाणित कर दिया कि उनका चिन्तन कितना व्यापक है और दृष्टिकोण कितना स्पष्ट है। भारतीय ऋषि-मुनियों ने तो चोर-डाकू जैसे असामाजिक तत्त्वों की वृत्तियों का परिष्कार कर उनको भी समाज के साथ जुड़कर जीने का अधिकार दिया है। अर्जुनमालाकार, वृद्धप्रहारी, रत्नाकर, रोहिणय जैसे दुर्दान्त हत्यारे, डाकू और चोर सही दिशाबोध पा अपना रास्ता बदल सन्त-संन्यासी बन गए। इतिहास के ये प्रसंग भारतीय संस्कृति की उदारता को ही उजागर करने वाले हैं।

मनुष्य कुछ भी करता है, उसके दो रूप होते हैं—क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक। मनुष्य अपने स्वतंत्र चिन्तन से क्रिया करे, यह स्वाभाविक स्थिति है। किन्तु जब वह प्रतिक्रिया में फंस जाता है, करणीय और अकरणीय

ध्वंस की राजनीति : ११५

का विवेक खो देता है। अयोध्या में विवादित ढांचे को लेकर जो कुछ हुआ, क्या वह प्रतिक्रिया नहीं है? उससे किसे लाभ मिल रहा है? माना कि किसी विधर्मी ने आपकी धार्मिक भावनाओं को आघात पहुंचाया, आपकी सांस्कृतिक विरासत को हथियाने का प्रयास किया। पर इसमें भूल किसकी रही? आपने अपने आपको दुर्बल क्यों होने दिया? आपकी सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना सुषुप्त क्यों रही? भूल अपनी और दोषारोपण दूसरों पर, यह भी प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति है। इस वृत्ति को बदले बिना कोई भी समाज या राष्ट्र शक्तिसंपन्न नहीं बन सकता।

विचारभेद रुचिभेद और आस्थाभेद के कारण किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र के बारे में विवाद की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विवाद को सुलझाने के भी उपाय हैं। समन्वय, समझौता आदि उपायों को काम में लिया जाए तो किसी भी विवाद को टिकने के लिए जमीन नहीं मिल सकती। किन्तु जहां विवादग्रस्त विषय में आग्रह का सहारा लिया जाता है, वहां आक्रोश, ध्वंस और हत्याओं का अन्तहीन सिलसिला शुरू हो जाता है। एक भूल के साथ अनेक भूलों का इतिहास जुड़ता है। इससे वर्तमान के भाल पर कलंक का जो टीका लगता है, उसे अनागत के अनेक प्रयत्न भी पोंछ नहीं सकते। जब तक उस ध्वंस के अवशेष रहेंगे, लोग कहेंगे—अमुक लोगों ने ध्वंस का इतिहास बनाया। अतीत में किसी के द्वारा भी ऐसा अवांछनीय प्रयत्न हुआ, शिष्ट, शालीन एवं चिन्तनशील व्यक्तियों द्वारा उसे मान्यता कब मिली? ऐसी घटना के बारे में विज्ञ लोगों की राय कभी सकारात्मक नहीं होती। फिर भी किसी ने कोई भूल कर दी तो गड़े मुर्दे उखाड़ने से किसको लाभ होगा?

भगवान् महावीर, बुद्ध, मुहम्मद साहब, गुरुनानक आदि कितने महापुरुष हो गए। उन्होंने अपने अनुयायियों को शान्ति और सहिष्णुता का बोधपाठ दिया। क्या वे कहानियां वाग्विलास मात्र बनकर रह गई हैं? आज एक विवादित ढांचे को ध्वस्त करने की प्रतिक्रियास्वरूप पूरे विश्व में मंदिर तोड़े जा रहे हैं। क्या इस तोड़फोड़ का कोई औचित्य है? हिन्दुस्तान में जो घटना घटी, उसकी प्रतिक्रिया पाकिस्तान और बंगला देश में क्यों हुई? पाकिस्तान या बंगला देश में जो हुआ, उसका अनुकरण भारत में रहने वाले मुसलमानों

ने क्यों किया? जिस धरती पर हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई का रिश्ता जोड़कर रह रहे हैं, वहां नफरत और दुश्मनी की वारदातों से किसका हित सधेगा? किसी को ध्वंस ही करना है तो बुराइयों, बुरी प्रवृत्तियों और बुरे चिन्तन का किया जाए। मंदिर, मस्जिद आदि धर्मस्थानों का सम्बन्ध मनुष्य की आस्था के साथ है। मंदिर और मस्जिद के निर्माण से पहले मनुष्य-मनुष्य के मन में ऐसी आस्था का निर्माण हो, जो ध्वंस की राजनीति से उसे बचा सके। क्योंकि निर्माण में लाखों वर्ष लग सकते हैं, जबकि ध्वंस के लिए एक पल ही पर्याप्त है।

ध्वंस की राजनीति : ११७

५४. मैत्री के साधक तत्त्व

राष्ट्र समस्याओं से संकुल है। यह कोई नई बात नहीं है। कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं है, जिसके सामने समस्या न हो। संभवतः किसी भी युग में समस्याओं से मुक्त कोई राष्ट्र रहा है, इतिहास में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए राष्ट्र की समस्याएं आदमी को आश्चर्य में नहीं डालतीं। एक कुत्ते ने आदमी को काट लिया, यह किसी समाचार-पत्र का संवाद नहीं बनता। क्योंकि कुत्ते आदमी को काटते रहते हैं। पर कोई आदमी कुत्ते को काट खाए तो प्रत्येक समाचार-पत्र इस संवाद को सुखिखियों में छापेगा।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को कोसता है, एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से असंतुष्ट है, एक राजनीतिक दल दूसरे दल की छीछालेदर करता है, ये बातें सबके समझ में आने जैसी ही हैं। किन्तु एक हाथ दूसरे हाथ को काटे, व्यक्ति अपने हाथों अपने पांव पर कुल्हाड़ी चलाए, स्वयं स्वयं के विकास में बाधा पहुंचाए, ये बातें चौंकाने वाली हैं। ऐसी बातें देश के किसी कोने से उठें, सुनने के लिए व्यक्ति चौकन्ने हो जाते हैं।

देश में जितने राजनीतिक दल हैं, उनमें अंतर्द्वन्द्व की स्थिति पैदा हो जाए तो उनसे देश का हित कैसे सधेगा? कोई विश्वास करे या नहीं, आज देश को ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। फिर भी किसी को चिन्ता नहीं है। यह चिन्ता तब तक नहीं होगी, जब तक देश की पूरी जनता के साथ मैत्रीपूर्ण रिश्ते स्थापित नहीं होंगे। अपने भाई-बन्धुओं, सगे-संबंधियों और परिचितों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होना बड़ी बात नहीं है। पर संसार में किसी को अपना शत्रु नहीं मानना, शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने वालों के प्रति भी मैत्री की धाराएं प्रवाहित करना मनुष्यता का ऊंचा आदर्श है। इस आदर्श तक पहुंचने के लिए मैत्री की अनुप्रेक्षा करनी होगी।

११८ : दीये से दीया जले

मैत्री का संबंध शब्दों तक सीमित नहीं है। मैत्री की गरिमा व्यवहार की परिधि में कैद नहीं है। मैत्री का पौधा चित्त की धरती पर अंकुशाता है, तब ही आत्मौपम्य भाव का विकास हो पाता है। मैत्री का विकास करने के लिए सात सूत्रों पर ध्यान देना आवश्यक है—विश्वास, स्वार्थत्याग, अनासक्ति, सहिष्णुता, क्षमा, अभय और समन्वय।

विश्वास से विश्वास बढ़ता है। संदेह की कंटीली झाड़ी में उलझा हुआ विश्वास का वस्त्र फट जाता है। फटे हुए वस्त्र की सिलाई कितने ही कौशल के साथ की जाए, वह एकरूप नहीं हो सकता। विश्वास की आंख में पड़ी हुई संदेह की फांस दिन-रात सालती रहती है, व्यक्ति को निश्चिन्त होकर जीने नहीं देती।

मैत्री की बुनियाद में पहली ईंट है विश्वास और दूसरी ईंट है स्वार्थत्याग। स्वार्थी व्यक्ति किसी का सच्चा मित्र नहीं बन सकता। स्वार्थ का त्याग वही कर सकता है, जो अनासक्त होता है। वस्तु, पद, प्रतिष्ठा आदि की आसक्ति आंखों को चुंधिया देती है। अनासक्ति के साथ सहिष्णुता का विकास आवश्यक है। असहिष्णु व्यक्ति अपने माता-पिता को भी सहन नहीं कर पाता। उसके लिए मित्र को सहना तो और भी कठिन है। मैत्री का पांचवां सूत्र है क्षमा। सहिष्णुता का संबंध अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ है जबकि क्षमा का अर्थ है किसी व्यक्ति के अपराध एवं दुर्व्यवहार को पूर्ण रूप से विस्मृत कर देना।

अभय और समन्वय मैत्री रूप स्रोतस्विनी के दो तट हैं। इनकी मर्यादा में ही मैत्री की धारा प्रवहमान रह सकती है। पारस्परिक भय अकारण दूरी पैदा करता है। जहां एक-दूसरे के विचारों और व्यवहारों में समन्वय नहीं होता, वहां विग्रह बढ़ जाता है। समन्वय शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का अमोघ मन्त्र है।

राष्ट्र में जहां-जहां विग्रह, भय, संदेह या स्वार्थी मनोभावों की प्रबलता है, वहां न शांति हो सकती है, न स्थिरता आ सकती है और न विकास के नए आयाम खुल सकते हैं। विरोधी व्यक्तियों या विचारों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार का सूत्रपात कहीं से भी हो, उसकी निष्पत्ति निश्चित रूप से राष्ट्र हित में होगी।

५५. दही का मटका और मँढक

आज राष्ट्र का जैसा वातावरण है, बहुत लोग निराशा में श्वास ले रहे हैं। उन्हें प्रलय की संभावना बढ़ती हुई नजर आ रही है। उनकी दृष्टि में जमाने की स्थितियां और अधिक जटिल होंगी। इस सन्दर्भ में हमारा चिन्तन भिन्न है। स्थितियां जैसी भी हैं, उनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह संसार है। इसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। ऐसा कुछ न हो तो संसार ही क्या? जो कुछ हो रहा है, उसे हम खुली आंखों से देखें। उस पर तटस्थ समीक्षा करें। अपने दायित्व को समझें और जागरूकता के साथ उसके निर्वाह का प्रयत्न करें।

रात्रि के समय संसार पर अन्धकार का साम्राज्य रहता है। प्रतिदिन सूरज उदित होता है। वह अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देता है। काल के अज्ञात बिन्दु से वह निरन्तर पुरुषार्थ कर रहा है। क्या उसने अन्धकार को पूरी तरह से लील लिया? क्या रात को अंधेरा नहीं होता है? दिन के साथ रात जुड़ी हुई है। सूरज कभी निराश नहीं होता। फिर मनुष्य के मन पर निराशा का कुहासा क्यों छाए?

राम, कृष्ण, महावीर और गांधी के चित्र हमारे सामने हैं। इनमें से प्रत्येक महापुरुष ने अपने युग को उजालों से भरने का प्रयास किया। इसी तरह रावण, कंस, गोशालक और गोडसे के चित्र भी हमारे सामने हैं। उन्होंने उजालों को ढकने की चेष्टा करके ही विराम नहीं लिया, उन पर कीचड़ उछालने की कोशिशें भी कीं। हर युग में विरोधी व्यक्तियों का अस्तित्व रहा है। हमारी सोच का आधार विधायक हो। हम उन स्थितियों में क्यों उलझें, जो मनुष्य को दीन हीन और दुर्बल बनाने पर आमादा हैं?

मानवीय आचरण के सर्वोत्तम प्रतीक हैं करुणा और संवेदना। इनके

१२० : दीये से दीया जले

साथ मनुष्य का शाश्वत सरोकार है। यह सरोकार टूटता है, तब मनुष्य मनुष्यता से विमुख हो जाता है। आज की सबसे बड़ी समस्या यही है। इस युग की युवापीढ़ी अपनी कुंठित महत्वाकांक्षा को नया रास्ता देने के लिए अपराध जगत् में प्रवेश कर रही है। प्रवेश करने से पहले वह स्वयं ही नहीं जानती कि उसकी गति किस ओर है? वह अपने बड़े-बुजुर्गों के सामने ऐसी चर्चा भी नहीं करती, जो उसे सही मार्गदर्शन दे सकें। इस गुमराह हो रही पीढ़ी को संभालने की जिम्मेवारी उन सब पर है, जो इसके उज्ज्वल भविष्य की आकांक्षा रखते हैं।

संसार में समस्याएं बढ़ रही हैं, यह एक यथार्थ है। इससे आंख मिचौनी करने मात्र से समस्याओं का दबदबा कम नहीं होगा। जो है, उसे स्वीकार करते हुए समाधान खोजना है। समाधान की खोज शुरू करते ही वह उपलब्ध हो जाए, यह अतिकल्पना है। खोज में संलग्न होने के बाद भी समस्याओं से जूझने की तैयारी रखनी ही होगी। दही से भरे हुए मटके में गिरा मेंढक लम्बे समय तक हाथ-पांव चलाता है। इससे दही का मंथन होकर मक्खन निकल आता है। दही में उसके डूबने की पूरी संभावना रहती है। किन्तु मक्खन पर वह निश्चिन्त होकर बैठ जाता है। उसके अस्तित्व को समाप्त करने वाली समस्या का समाधान वह अपने पुरुषार्थ से खोजता है।

मनुष्य का मस्तिष्क मेंढक से बहुत अधिक विकसित है। वह समस्याओं को देखकर हताश हो जाए, उन्हीं का रोना रोता रहे तो समस्याओं की पकड़ और अधिक गहरी हो सकती है। मनुष्य का दायित्व है कि वह उनके मूल को खोजे, उन्हें समाहित करने के लिए निरन्तर श्रम करे और प्रत्येक स्थिति में संतुलन हो सुरक्षित रखे। इसी प्रक्रिया से वह अपने आसपास आशा के दीये प्रज्वलित रख सकता है।

दही का मटका और मेंढक : १२१

५६. परिणाम से पहले प्रवृत्ति को देखें

जीवन कैसा होना चाहिए? यह एक प्रश्न है। प्रश्न नया नहीं, सनातन है। प्राचीन युग में बहुत लोगों के मन को इस प्रश्न ने आन्दोलित किया होगा। वर्तमान में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो इस प्रश्न में उलझ रहे हैं। भविष्य में यह स्थिति नहीं रहेगी, ऐसा कहने के लिए हमारे पास कोई ठोस आधार नहीं है।

कुछ लोग जीते हैं, पर वे क्यों जीते हैं? और कैसा जीवन जीते हैं? इस बात से उन्हें कोई सरोकार नहीं होता। उन्हें जीना है, इसलिए वे जीते हैं। क्यों और कैसे? जैसे प्रश्नों पर सोचने के लिए न तो उनके पास समय है और न वैसी समझ ही विकसित है। जीना उनकी नियति है। जीवन का रथ कब, किस दिशा में आगे बढ़ता है और कहां जाकर रुकता है, इस स्थिति से वे बेखबर रहते हैं। उनको खबर रहती है सुबह से शाम तक दौड़धूप की। परिवार की गाड़ी को आगे खींचने के लिए भोजन, वस्त्र और मकान की।

कुछ लोग जीते हैं, एक स्वप्न के साथ जीते हैं, एक संकल्प के साथ जीते हैं। युग की प्रत्येक सुविधा उनके पैरों तले बिछी रहे, यह उनका सपना है। इस स्वप्न को साकार करने के लिए वे चिन्तन करते हैं, योजना बनाते हैं, योजना को क्रियान्वित करने के स्रोत खोजते हैं और पुरुषार्थ भी करते हैं। उनके जीवन का लक्ष्य होता है—अधिक-से-अधिक उपभोग की सामग्री का संग्रह और अधिक-से-अधिक भोग। इस लक्ष्य की पूर्ति करते समय वे भूल जाते हैं कि संग्रह की सीमा होती है और भोग की भी सीमा होती है। आज तक संसार में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ, जिसने पूरे विश्व का ऐश्वर्य संगृहीत किया हो और संभवतः ऐसा व्यक्ति भी नहीं हुआ, जिसने अपने संगृहीत धन-वैभव का तृप्तिदायक उपभोग किया हो। ऐसी स्थिति में

१२२ : दीये से दीया जले

जीवन का कोई ऊंचा और सार्थक लक्ष्य हो तो व्यक्ति को नई दिशा मिल सकती है।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो केवल जीने के लिए नहीं जीते। जीवन के बारे में उनकी स्वतंत्र सोच होती है। वे प्रवाहपाती होकर नहीं जीते। उनके सामने लक्ष्य होता है—भवितुकामिता। वे कुछ होना चाहते हैं, कुछ बनना चाहते हैं, इसलिए कुछ करना भी चाहते हैं। उनकी चाह हथेली पर सरसों उगाने की नहीं होती। उनकी कल्पना उतनी ही होती है, जिसके पंखों पर बैठकर संभावना के आकाश में उड़ा जा सके। उनका दृष्टिकोण विधायक होता है। वे हर घटना को उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखते हैं और उससे प्रेरणा लेते हैं। कठिन परिस्थितियों में भी वे अपनी आस्था से विचलित नहीं होते। जिस नीति या सिद्धान्त के आधार पर वे अपने जीवन का तानाबाना बुनते हैं, उसे किसी स्वार्थ की प्रेरणा से छिन्न-भिन्न नहीं होने देते। उनकी संकल्पनिष्ठा इतनी गहरी होती है कि बड़े-बड़े तूफान भी उसकी जड़ों को नहीं हिला सकते।

मनुष्य के जीवन का कोई सार्थक लक्ष्य निर्धारित हो। लक्ष्य की दिशा में गतिशील उसके चरण कहीं रुके नहीं। आस्था का आलोक उसके मन के अंधेरों को दूर करता रहे। विपरीत परिस्थितियों में भी उसकी संकल्पनिष्ठा फौलादी चट्टान बनकर खड़ी रहे। असंयम और अतिभोग की संस्कृति में संयम और भोग पर अंकुश रखने की मनोवृत्ति विकसित हो। इस प्रकार की छोटी-छोटी बातें जीवन के साथ जुड़ें, यह अणुव्रत की आकांक्षा है। जीवन की छोटी-छोटी समस्याओं का मुकाबला करने के लिए छोटे-छोटे संकल्प। छोटी समस्या पर ध्यान नहीं दिया जाता है, तब वह बड़े आकार में खड़ी हो जाती है। अणुव्रत का दर्शन सूक्ष्म है। वह विश्वयुद्ध रोकने के स्थान पर उस चेतना को बदलना चाहता है, जो युद्ध की प्रेरक है। वह परिणाम से पहले प्रवृत्ति पर ध्यान देता है। प्रवृत्ति सही है तो परिणाम गलत हो ही नहीं सकता। अणुव्रत की यह सीख जिस मनुष्य के जीवन में उतर गई 'जीवन कैसा होना चाहिए?' इस प्रश्न का उत्तर वह मनुष्य स्वयं ही हो सकता है।

परिणाम से पहले प्रवृत्ति को देखें : १२३

५७. नारी के तीन रूप

आधी दुनिया का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री कितनी उपेक्षित, शोषित और प्रताड़ित होती रही है, किसी से अज्ञात नहीं है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री सदा दोगुने दर्जे की जिन्दगी बसर करती है। विकसित और विकासशील सभी देशों में स्त्री को विवाद के घेरे में रखा गया है। समाज व्यवस्था हो या राज्य व्यवस्था, व्यवसाय का क्षेत्र हो या शिक्षा का, परिवार की पंचायत हो या धर्म का मंच, कुछ अपवादों को छोड़कर स्त्री की क्षमताओं का उचित मूल्यांकन और सही उपयोग नहीं हो पाता है। मेरे मन में स्त्री जाति के प्रति सहज ही ऊंची धारणा है। इसकी शक्ति का सदुपयोग हो तो परिवार और समाज को नई चेतना प्राप्त हो सकती है।

स्त्री को सृजन का प्रतीक माना जाता है। मेरे अभिमत से यह ध्वंस के लिए भी एक विस्फोटक का काम कर सकती है। सद्संस्कारों का सृजन और बुराइयों का ध्वंस—ये दोनों ही काम न कानून-कायदों से हो सकते हैं, न भय से हो सकते हैं और न दण्डशक्ति से हो सकते हैं। ऐसे बहुत कानून बने हुए हैं, जो प्रभावी होकर भी अकिंचित्कर हैं। भय का हथियार कच्चे दिमाग वाले बच्चों पर चल सकता है अन्यथा वह भोंधरा हो जाता है। दण्डशक्ति एक बार असरकारक हो सकती है। वातावरण में बदलाव आए बिना दण्ड के वार भी व्यर्थ चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में नारी शक्ति का प्रयोग करके उसके परिणामों की मीमांसा की जा सकती है।

नारी के मुख्यतः तीन रूप हैं—लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा। परिवार को संस्कार-सम्पन्न बनाते समय वह लक्ष्मी का रूप धारण कर सकती है। सन्तति को शिक्षित करते समय वह सरस्वती बन सकती है और बुराइयों का ध्वंस करने के लिए वह सिंह पर आरूढ़ दुर्गा की भूमिका निभा सकती है। अपेक्षा

१२४ : दीये से दीया जले

एक ही है कि इसके तीनों रूपों को उपयोगी मानकर काम में लिया जाए।

अणुव्रत के मंच से महिलाएं काम करती हैं। अनेक प्रसंगों में उनके शौर्य, साहस और सूझबूझ का परिचय मिलता है। पर उनके दायरे सीमित हैं। जब तक उनको व्यापक कार्यक्षेत्र नहीं दिया जाएगा, उनका कर्तृत्व सामने कैसे आएगा? इस समय महिलाओं के सामने दो रास्ते हैं—आधुनिकता की अंधी दौड़ में सम्मिलित होना और अपनी शक्ति को सत्संकारों के निर्माण व असत्संस्कारों के ध्वंस में नियोजित करना। पहला रास्ता न महिला जाति के लिए हितकर है और न समाज के लिए। महिलाओं को अपनी शक्ति का सदुपयोग करना है तो दूसरा रास्ता ही चुनना होगा।

भारतीय संस्कृति में व्यसनमुक्त जीवन को आदर्श माना गया है। शराब एक व्यसन है। यह बहुत पुराना व्यसन है। सभ्यता, संस्कृति, परिवार और शरीर तक को चौपट करने वाला है यह व्यसन। इसकी जड़ें काटने के लिए कई आन्दोलन और अभियान चले, आज भी चल रहे हैं, पर सफलता हासिल नहीं हुई। काश! स्त्री का दुर्गारूप मुखर होता और शराब के विरोध में संघर्ष छिड़ता। काश! वह एक तूफानी नदी का रूप धारण करती और आसपास की बुराइयों का सारा कूड़ा-करकट बहाकर ले जाती।

कुछ प्रदेशों की महिलाओं ने समाज और सरकार को अपने दुर्गारूप का परिचय देने में सफलता प्राप्त की हैं। पिछले कुछ महीनों से आन्ध्र प्रदेश की महिलाओं ने शराब के खिलाफ एक आन्दोलन शुरू कर रखा है। इन महिलाओं में न तो अधिक पढ़ी-लिखी महिलाएं हैं और न आर्थिक दृष्टि से बहुत संपन्न घरानों की महिलाएं हैं। अनपढ़, अशिक्षित और गरीब महिलाओं ने संगठित रूप में शराब संस्कृति पर जो धावा बोला है, शराब की हजारों दुकानें बन्द हो गई हैं। उन्होंने शराब के ठेकों की नीलामियों पर भी रोक लगा दी है। उनका हौंसला और काम करने का तरीका देखकर कुछ समाज सुधारक, कुछ युवा और कुछ छात्र भी उनके आन्दोलन को हवा दे रहे हैं। महिलाओं ने राज्य में पूर्ण शराबबन्दी की मांग की है।

एक शराब ही नहीं, मादक और नशीली वस्तुओं का प्रचलन आज जिस गति से बढ़ता जा रहा है, चिन्ता का विषय है। स्वस्थ जीवनशैली में घुसपैठ करने वाले इन पदार्थों को देश-निकाला देने के लिए केवल आन्ध्र

की महिलाओं के संघर्ष से क्या होगा? देश भर की महिलाएं जागें। राष्ट्र चेतना वर्ष में अपनी चेतना जगाएं। सामाजिक और राष्ट्रीय बुराइयों के खिलाफ अपनी शक्ति को झोंक दें। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि नारीशक्ति स्थायी रूप से यह काम अपने हाथ में ले तो अनेक प्रकार की बुराइयों के अस्तित्व को चुनौती दी जा सकती है। इसके लिए किसी एक सीताम्मा और रोसम्मा से काम नहीं चलेगा। देश भर की अम्माओं को एकनिष्ठ हो दुर्गा बनकर काम करना होगा।

१२६ : दीये से दीया जले

५८. किट्टी पार्टी और महिला समाज

विगत कुछ वर्षों से भारतीय महिलाओं में एक नई संस्कृति अपने पांव फैला रही है। उच्च एवं मध्यम वर्ग की महिलाएं उस संस्कृति को उच्चस्तरीय जीवनशैली का अंग मान रही हैं। उसकी पहचान किटी या किट्टी पार्टी के नाम से की जा सकती है। किट्टी पार्टी की सदस्याएं पार्टी द्वारा निर्धारित अर्थ राशि देती हैं, स्नेह मिलन करती हैं, तम्बोला, तास, संगीत आदि मनोरंजक कार्यक्रमों का आयोजन करती हैं, गपशप करती हैं और चाय-नाश्ते के साथ पार्टी का समापन करती हैं।

किट्टी पार्टी के आयोजन का मूलभूत उद्देश्य था—एक मध्यमवर्गीय महिला एक साथ हजार-पांच सौ रुपये खर्च कर कोई घरेलू उपकरण नहीं खरीद सकती। पार्टी की सदस्याएं पचीस, पचास, सौ या इससे अधिक-कम अर्थराशि प्रत्येक सदस्या से प्राप्त कर उसे नामांकित पत्र के माध्यम से एक महिला को उपलब्ध करा देती। उससे वह आवश्यक उपकरण खरीद लेती। इस प्रकार प्रतिमास एक-एक सदस्या को वह अर्थ मिल जाता। जिस-जिस महिला के नाम पत्र निकलता, उस-उस नाम को उस चक्र से हटा दिया जाता। आवश्यकतापूर्ति के उस साधन को अब प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाया जाने लगा है।

आजकल उपकरण के क्रय की बात गौण हो गई है और किट्टी पार्टी धनाढ्य महिलाओं का एक 'चोच' बनकर रह गई है। अब वे उस पार्टी को मनोरंजन अथवा समय पास करने का साधन मानकर उसी रूप में उसका उपयोग करती हैं। सम्पन्न परिवारों की महिलाएं, जिनको न खाना बनाने की अपेक्षा रहती है और न किसी अन्य घरेलू काम में हाथ बंटाने की आवश्यकता है, पूरे दिन करें क्या? पारिवारिक जीवन में इतने बिखराव और

किट्टी पार्टी और महिला समाज : १२७

इतनी टूटन आती जा रही है कि जीवन में बढ़ते जा रहे शून्य को भरने की उम्मीद ही समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में क्लब, रेस्तरां या किट्टी पार्टी जैसे माध्यमों से शून्य भरने का उपाय खोजा जाता है। यह आधुनिक जीवन-शैली की देन है और विशेष रूप से शहरी महिलाएं इससे प्रभावित हैं।

फ्लेट संस्कृति में पलने वाली, पति के ऑफिस और बच्चों के स्कूल जाने के बाद घर में अकेली बैठी महिला बोरियत का अनुभव करती है। जिन महिलाओं को घरेलू उपकरण खरीदने के लिए पैसे की कमी नहीं होती। वे पार्टी में एकत्रित अर्थ राशि को खाने-पीने में उड़ा देती हैं। कुछ तथाकथित उच्च घरानों की महिलाएं तो सिगरेट और शराब से भी परहेज नहीं रखतीं। गपशप, मनोरंजन और भोजन के अतिरिक्त उस पार्टी से किसी भी महिला को कौन-सा लाभ होता है, विचारणीय विषय है। काश ! ऐसी महिलाएं समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना जगाने के लिए अपने समय का उपयोग करतीं तो उन्हें अतिरिक्त आत्मतोष मिलता और महिलाओं की सृजनात्मक क्षमताओं से समाज लाभान्वित होता।

उच्चवर्गीय महिलाओं की देखादेखी आज साधारण परिवारों की महिलाएं भी इस प्रतिस्पर्धा में अपनी भागीदारी दे रही हैं। आधुनिक कहलाने की होड में घर और बच्चों की उपेक्षा कर इस नई संस्कृति को प्रोत्साहन देने वाली महिलाएं क्या अपने हाथों अपने ही पांवों पर कुल्हाड़ी नहीं चला रही हैं? उनका यह निरुद्देश्य उन्मुक्त आचरण उनकी बहू-बेटियों को कहां तक ले जाएगा ? क्या इस प्रश्न पर कभी उनका ध्यान केन्द्रित होता है? समय की गति बहुत तीव्र है। महिलाएं एक बार तटस्थ भाव से ऐसी प्रवृत्तियों की समीक्षा करें। पारिवारिक चरित्र को उदात्त बनाए रखने के लिए अपनी वृत्तियों का परिष्कार करें। समय और शक्ति का सम्यक् नियोजन करने के लिए परिवार और समाज के लिए सार्थक गतिविधियों पर ध्यान दें, यह आवश्यक है।

५६. प्रशिक्षण अहिंसा का

युगीन समस्याओं में एक अहम समस्या है हिंसा। हिंसा अतीत में होती थी, वर्तमान में हो रही है और भविष्य में नहीं होगी, ऐसा कहा नहीं जा सकता। जहां जीवन है, जीविका के साधनों की खोज है, वहां हिंसा भी है। पर वह हिंसा कभी समस्या नहीं बनती। उसके साथ समस्या का सूत्र तब जुड़ता है, जब संवेगों पर नियन्त्रण नहीं रह पाता। पशु-पक्षियों की बात एक बार छोड़ दी जाए तो मानना होगा कि हिंसा के बीज मनुष्य के नाड़ी-तंत्र और ग्रंथितंत्र में हैं। इनको सुनियन्त्रित किए बिना हिंसा की समस्या का हल खोज पाना असंभव है।

मनुष्य सत्य, शिव और सौन्दर्य का उपासक है। सत्य क्या है? संसार का हर प्राणी अपने ढंग से जीना चाहता है, यह एक सचाई है। उसके जीने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करना हिंसा है। हिंसा का मूल स्रोत है पदार्थ के प्रति आसक्ति। आसक्ति जितनी सघन होगी, हिंसा उतनी ही भयंकर होगी। अनासक्त व्यक्ति के जीवन में हिंसा का प्रसंग उपस्थित ही नहीं होता। इसलिए हिंसा के वृक्ष पर आए पत्तों, फूलों और फलों तक ही सीमित न रहकर उसकी जड़ों तक ध्यान देने की अपेक्षा है। जब तक हिंसा की जड़ें नहीं खोदी जाएंगी, उसके दुष्परिणामों को रोकना कठिन है।

हिंसा के तीन रूप मुख्य हैं—आरम्भजा, विरोधजा और संकल्पजा। एक सामाजिक प्राणी आरम्भजा और विरोधजा हिंसा से बच नहीं सकता। वह खेती करता है, व्यवसाय करता है, जीविका के लिए साधन जुटाता है। इसमें होने वाली हिंसा अपरिहार्य है। सामाजिक जीवन में वैर-विरोध के प्रसंग भी आते हैं। विरोधी के आक्रमण को विफल करने के लिए अथवा उसकी ओर से संभावित हमले को टालने के लिए व्यक्ति हिंसा का सहारा लेता है। इसे

प्रशिक्षण अहिंसा का : १२६

अपरिहार्यता न भी माना जाए, पर विवशता तो मानना ही होगा। जब तक व्यक्ति में जिजीविषा रहती है, वह अपने बचाव के लिए हर संभव उपाय काम में लेता है।

हिंसा का तीसरा रूप है संकल्पजा। न कोई यौक्तिक उद्देश्य, न कोई विवशता और न कोई अपेक्षा। फिर भी मनुष्य हिंसा करता है। निरपराध मनुष्य को मारता है। क्यों? मारने का जनून सवार है उस पर। उसकी सोच का रास्ता बन्द है। बहुत बार व्यक्ति स्वयं नहीं जानता कि वह दूसरों के प्रति आक्रोश से क्यों भरा है? वह संवेगों के ऐसे अश्व पर सवार रहता है, जिसकी लगाम उसके हाथ में नहीं है। वह अश्व उसे पतन की कितनी ही गहरी खाई में ले जाकर गिरा दे, उसके बचने का कोई उपाय नहीं रहता। आज संसार में यही हो रहा है।

हिंसा की समस्या का समाधान प्रतिहिंसा में नहीं है। यदि ऐसा होता तो अब तक हिंसा का जनाजा निकल गया होता। प्रतिहिंसा से हिंसा भड़कती है। उसका स्थायी समाधान है अहिंसा। हिंसा की तरह अहिंसा के बीज भी मनुष्य के मस्तिष्क में हैं। जब तक मस्तिष्क को प्रशिक्षित नहीं किया जाएगा, हिंसा नए-नए मुखौटों में मनुष्य की शांति को भंग करती रहेगी। हिंसा को रोकने के लिए अहिंसा के प्रशिक्षण की अपेक्षा है। अहिंसा के प्रशिक्षण का अर्थ है—संवेगों को नियन्त्रित रखने का प्रशिक्षण, दृष्टिकोण को बदलने का प्रशिक्षण, हृदय को बदलने का प्रशिक्षण, जीवनशैली को बदलने का प्रशिक्षण और व्यवस्था को बदलने का प्रशिक्षण। जैन विश्वभारती, मान्य विश्वविद्यालय अहिंसा के प्रशिक्षण की योजना को क्रियान्वित करने के लिए कृतसंकल्प है। यदि यह योजना क्रियान्वित हो सकी तो हिंसा के गहराते बादलों को चीरकर शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सूरज का प्रकाश फैलाया जा सकता है।

६०. मनोवृत्ति के परिमार्जन की त्रिपदी

लोग कहते हैं—‘आज का युग साइन्स और टेक्नालॉजी का युग है।’ मुझे लगता है कि इस युग में दो बातें विशेष रूप से बढ़ रही हैं—एक्सीडेंट और अपराध। शायद ही कोई दिन ऐसा जाए, जिस दिन दुर्घटना नहीं होती हो। दुर्घटना कब और कैसे हो जाती है, किसी को पता ही नहीं चलता। मौत को आना होता है तो वह कहीं भी द्वार बना लेती है। वज्रनिर्मित परकोटे को पार कर वह अपने गंतव्य तक आसानी से पहुंच जाती है। तीर्थकरों और मनीषियों की यह अनुभवपूत वाणी पग-पग पर अपनी सचाई प्रकट कर रही है। दीपावली का अवसर। फरीदाबाद में बारूद भरे पटाकों की एक दुकान में आग लगी। आसपास कई दुकानें थीं। उनमें पटाकों की दुकानें भी थीं। अन्य सामान की दुकानें भी थीं। आग की लपटें आगे बढ़ीं। कई दुकानें उनकी चपेट में आ गईं। एक दुकान में बड़े और बच्चे सब मिलाकर पांच व्यक्ति थे। दुकान को आग न पकड़ ले, इस आशंका से उन्होंने शटर नीचे गिरा दिया। दुकान बन्द हो गई। नीचे के हिस्से में थोड़ी-सी सुराक रह गई। दुकान से बाहर बारूद का धुआं फैला। वह सुराक के रास्ते से अन्दर घुस गया। आग से दुकान को बचाने के प्रयत्न में वहां गैस ही गैस हो गई। दुकान के भीतर बन्द पांचों व्यक्तियों ने दम तोड़ दिया। अंतिम समय में उनकी क्या परिस्थिति या मनःस्थिति रही, कोई साक्षी नहीं बचा।

इस प्रकार के हादसे घटित होते ही रहते हैं। कहीं ट्रेन दुर्घटना, कहीं प्लेन दुर्घटना। कहीं बस-कार की टक्कर, कहीं ट्रक-मारुति की भिड़ंत। कहीं ट्रक से कुचल जाना, कहीं बस के धक्के से गिर जाना। कहीं स्कूटर का उलट जाना और कहीं बस का नदी या नाले में गिर पड़ना। कहीं

मनोवृत्ति के परिमार्जन की त्रिपदी : १३१

बाढ़, कहीं भूकम्प, कहीं तूफान, कहीं ज्वालामुखी का फटना और भी न जाने कितने रूप हैं दुर्घटनाओं के। और कोई कारण नहीं मिलता है तो मनुष्य स्वयं ही मृत्यु के लिए आमादा हो जाता है। आत्महत्या के भी नए-नए रूप विकसित हो रहे हैं। उन्हें देखकर कहना पड़ता है—यह युग एक्सीडेंट का युग है।

अपराध बढ़ रहे हैं, यह चिन्ता का विषय है। इससे भी अधिक चिन्तन इस बात पर हो कि अपराध क्यों बढ़ रहे हैं? वह कौन-सी प्रेरणा है, जो मनुष्य को अपराधी बनाती है? हत्या, मारपीट, राहजनी, डाका, बलात्कार, अपहरण आदि प्रवृत्तियों का उत्स क्या है? मनुष्य इतना क्रूर कैसे हो गया? वह आदमी को गाजर-मूली की तरह काटता है। निरपराध लोगों को सामूहिक रूप में गोलियों से भून देता है। ऐसी घटनाएं रात के अंधेरे में नहीं, दिन में हो जाती हैं। एकान्त बीहड़ों में ही नहीं, शहर के बीच में हो जाती हैं। दर्शक देखते रह जाते हैं। उनमें इतनी दहशत व्याप जाती है कि न उनके मुंह से शब्द निकलते हैं और न हाथ हरकत में आते हैं। अपराध करने वाले बिना डरे, बिना सहमे निश्चिन्त होकर अपने गन्तव्य तक पहुंच जाते हैं। उसके बाद फुसफुसाहटें शुरू होती हैं। यह सब कब तक चलता रहेगा?

दुर्घटना का शिकार होने वाला चला जाता है। वह अपने पीछे छोड़ जाता है शोकसंकुल परिवार का क्रन्दन। दुर्घटनाएं इरादतन नहीं होतीं, पर उनके पीछे भी कुछ कारण हैं। एक बड़ा कारण है शराब। ड्राइवर शराब पीकर अन्धाधुंध बसें चलाते हैं, ट्रक चलाते हैं, कारें चलाते हैं और हादसे हो जाते हैं। अणुव्रत का एक नियम है— मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करना। छोटा-सा नियम, बड़ी-बड़ी दुर्घटनाओं को टाल सकता है। काश! मनुष्य इसकी महत्ता को समझे। कुछ दुर्घटनाएं प्राकृतिक होती हैं। कुछ यंत्रों में गड़बड़ी होने से होती हैं। उनको टालना असंभव प्रतीत हो सकता है। पर जो संभव है, उसे असंभव क्यों बनाया जाए?

हत्या, अपहरण आदि प्रवृत्तियों के पीछे मनुष्य की जो मनोवृत्ति है, उसको परिमार्जित किए बिना अपराधों के आंकड़ों में कमी नहीं आ सकती। जब तक मन का मार्जन नहीं होगा, पग गलत रास्तों में बढ़ते रहेंगे। मन

१३२ : दीये से दीया जले

स्वस्थ हो तो व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है और दूसरों की त्रासदी को दूर कर सकता है। मन को स्वस्थ बनाने का छोटा-सा उपक्रम है अणुव्रत की शरण स्वीकार करना। अणुव्रत की चर्चा, अणुव्रत साहित्य का स्वाध्याय और अणुव्रती लोगों का संपर्क—यह त्रिपदी मनोवृत्ति के परिमार्जन की त्रिपदी है। इसक सहारे अणुव्रत लोकजीवन में उतर जाए तो अपराधी लोगों की दिशा बदली जा सकती है।

६१. त्रैकालिक समाधान

मुनष्य में दो प्रकार की वृत्तियां होती हैं-- सिंहवृत्ति और श्वावृत्ति। सिंह पर तीर या गोली का वार होता है तो वह पीछे मुड़कर देखता है। उसमें जिज्ञासा जागती है कि प्रहार किस दिशा से हुआ? किसने किया ? इससे आगे वह प्रहार करने वाले के प्रति आक्रामक रुख अपनाता है और उसे समाप्त कर अपने भविष्य को निरापद बना लेना चाहता है। कुत्ते पर कोई पत्थर फेंकता है तो। वह रुकता है। पर पीछे मुड़कर नहीं देखता। प्रहार करने वाले पर उसका ध्यान नहीं जाता। वह उस पत्थर को चाटने लगता है।

श्वावृत्ति के लोग किसी भी विषय पर चिन्तन करते हैं, उसमें तात्कालिक समाधान का लक्ष्य रहता है। समस्या का तात्कालिक समाधान भी काम का है। पर उससे समस्या का अंत नहीं होता। वह पैतरा बदलकर दूसरे रूप में सामने आ जाती है। कुछ लोग किसी समस्या के बारे में तब तक नहीं सोचते, जब तक उससे वे स्वयं प्रभावित नहीं हो जाते। यह भी संकीर्ण चिन्तन की प्रेरणा है। उस समस्या को सार्वभौम और सार्वजनीन रूप में देखा जाता है तो किसी भी देश का कोई भी व्यक्ति उससे आंखमिचौनी नहीं कर सकता।

राष्ट्रपति बुडरो विल्सन ने सन् १९१९ में 'लीग ऑफ नेशन्स' का घोषणापत्र तैयार किया। उसमें लिखा गया है--'कोई भी युद्ध या युद्ध का खतरा, चाहे उससे लीग का कोई सदस्य तत्काल प्रभावित हो या नहीं, समस्त लीग के लिए चिन्ता का विषय है।' यह चिंतन सिंहवृत्ति का प्रतीक है। इसमें समस्या के त्रैकालिक स्वरूप को ध्यान में रखकर विचार किया गया है। आवश्यकता इस वृत्ति को विकसित करने की है। अन्यथा मनुष्य की शक्ति तात्कालिक समस्याओं के समाधान में उलझकर रह जाएगी। उससे न तो स्थायी समाधान मिल पाएगा और न भविष्य के खतरों को टाला जा सकेगा।

१३४ : दीये से दीया जले

हिंसा, आतंक, अलगाववाद, नशे की आदत आदि समस्याएं देश के सामने चुनौती बनकर खड़ी हैं। इनके समाधान की चर्चा बहुत होती है। पर समाधान के आसार दिखाई नहीं दे रहे हैं। कारण साफ है। समस्या के मूल की खोज नहीं हो रही है। श्वावृत्ति के आधार पर तात्कालिक समाधान के लिए दौड़धूप हो रही है। किन्तु सिंहवृत्ति को अपनाकर समस्या के मूल पर ध्यान कम दिया जा रहा है। समस्या के मूल तक पहुंचने में समय लग सकता है। पर स्थायी समाधान होगा तो इसी प्रक्रिया से होगा।

अहिंसा का प्रशिक्षण हिंसा का त्रैकालिक समाधान है, इस चिन्तन के आधार पर हमने अहिंसा के प्रशिक्षण का उपक्रम प्रारंभ किया है। इस सन्दर्भ में हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के बाद हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'अहिंसा-प्रशिक्षण' की बात शिक्षा के साथ जुड़ जाए, विद्यार्थी को प्रारंभ से ही अहिंसा का प्रशिक्षण दिया जाए, थ्योरीटिकल और प्रेक्टिकल प्रशिक्षण का क्रम चलाया जाए, उसके सामने 'अहिंसक जीवन-शैली' का प्रारूप और उदाहरण प्रस्तुत किया जाए तो वह दिन दूर नहीं होगा, जब हम सुनेंगे कि हिंसा ने अहिंसा के सामने घुटने टेक दिये हैं।

६२. आवश्यक है दो भाइयों का मिलन

महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन के सामने एक प्रश्न आया--‘विज्ञान ने मनुष्य को शारीरिक श्रम से मुक्त किया है, अनेक प्रकार की सुविधाएं दी हैं, फिर भी मनुष्य सुखी क्यों नहीं हुआ?’ आइन्स्टीन ने उत्तर दिया--‘मनुष्य ने विज्ञान का उपयोग अक्लमन्दी से नहीं किया।’

विज्ञान की प्रगति से सारा संसार चकाचौंध हो रहा है। प्रगति के नए-नए आयाम खुलते जा रहे हैं। हर नया आयाम मानव जाति के प्रवाह को नई दिशा दे रहा है। फिर भी मनुष्य अशान्त है, क्लान्त है, व्यथित है। क्योंकि सुख और शान्ति का एकमात्र साधन विज्ञान को मान लिया गया। जबकि विज्ञान का सम्बन्ध बौद्धिक विकास से है। बुद्धि पदार्थ को जानती है। उसके बारे में खोज करती है और उसके उपयोग की विधि बताती है। किन्तु मनुष्य जिन दुर्बलताओं से आक्रान्त है, उनसे मुक्त होने का उपाय नहीं सुझाती।

अध्यात्म बहुत ऊंचा तत्त्व है। वह चेतना के तल तक पहुंचता है। आत्मा में छिपी हुई शक्तियों को जगाने का रास्ता बताता है। पर उसे रोटी की चिन्ता नहीं है। वह मनुष्य की दैनिक समस्याओं को समाहित नहीं करता। एक भूखा आदमी, समस्याओं से घिरा हुआ आदमी आत्मा के अज्ञात रहस्यों को खोलने का प्रयास कैसे करेगा? संसार और मोक्ष, पुनर्जन्म और पूर्वजन्म, कर्म का बन्ध और उसके फल का भोग आदि गंभीर विषयों पर सोचने की मानसिकता कैसे बनेगी?

विज्ञान और अध्यात्म जीवन के दो छोरों को छू रहे हैं। एक को केवल बौद्धिक या भौतिक विकास की चिन्ता है। दूसरा केवल आध्यात्मिक विकास की बात करता है। ये दोनों जब तक निरपेक्ष रहेंगे, मनुष्य सुखी नहीं हो

१३६ : दीये से दीया जले

पाएगा। इसी दृष्टि से हमने योगक्षेम वर्ष में आध्यात्मिकवैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण का सपना देखा था। अध्यात्म-निरपेक्ष विज्ञान और विज्ञान-निरपेक्ष अध्यात्म अधूरा है। इसी दृष्टि से कहा गया है--

कोरी आध्यात्मिकता युग को प्राण नहीं दे पाएगी,
कोरी वैज्ञानिकता युग को त्राण नहीं दे पाएगी,
दोनों की प्रीति जुड़ेगी,
युगधारा तभी मुड़ेगी,

क्या-क्या पाना है, पहले आंक लो।

ओ सन्तो! क्या-क्या पाना है ? गहरे झाँक लो ॥

अपेक्षा है, अध्यात्म और विज्ञान एक-दूसरे के पूरक बनें। सत्य को जानना एक बात है और उसे जीना एक बात है। जानने मात्र से सत्य जिया नहीं जाता और जीने मात्र से वह जाना नहीं जाता। मनुष्य का प्रस्थान उभयमुखी हो-- वह जाने और जिए। जानने का आनन्द जीवन के साथ जुड़कर बहुगुणित हो जाता है। इसी प्रकार जीने के आनन्द को ज्ञानपूर्वक शतगुणित किया जा सकता है।

चिरकाल से बिछुड़े हुए दो भाई सायास या अनायास जब कभी मिलते हैं, उनके विकास की संभावनाओं के नए द्वार खुल जाते हैं। अध्यात्म और विज्ञान-- दो ऐसे सहोदर हैं, जो दीर्घकाल से बिछुड़े हुए हैं। दोनों एक-दूसरे के वियोग में रिक्तता का अनुभव कर रहे हैं। युग का तकाजा है कि दोनों भाइयों का मिलन हो, शान्त सहवास हो। ऐसा होने से ही मनुष्य के जीवन की जटिलताएं कम हो पाएंगी। अध्यात्म और विज्ञान का योग ही सुख और शान्ति का पथ प्रशस्त कर पाएगा।

आवश्यक है दो भाइयों का मिलन : १३७

६३. मौत के साये में

‘विश्व स्वास्थ्य संगठन’ पूरे विश्व की मानव जाति के स्वास्थ्य की चिन्ता करने वाला संगठन है। वह विगत कुछ अर्से से प्रतिवर्ष ३१ मई को ‘विश्व तम्बाकू निषेध दिवस’ मनाता है। इस दिन को मनाने का उद्देश्य है तम्बाकू के दुष्परिणामों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करना। इस विषय में रिसर्च करने वाले वैज्ञानिकों का अभिमत है कि सन् २०२० से २०३० के दशक में भीषण नरसंहार की संभावना है। इस संभावना को आंकड़ों में प्रस्तुत किया जाए तो करीब तीन करोड़ लोगों को मौत का पैगाम सुनाया गया है। यह संहार किसी आणविक विस्फोट से नहीं होगा, बाढ़ या भूकम्प जैसी प्रकृतिक आपदा से नहीं होगा और किसी महामारी से नहीं होगा। इसका कारण बनेगा तम्बाकू का धुआं। तम्बाकू के सेवन से होने वाली बीमारियों एवं अन्य दुष्प्रभावों के शिकार दस करोड़ लोग हो सकते हैं।

तम्बाकू से बनने वाले पदार्थों के अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव के बारे में अनुसंधान, विश्व में कहां कितने प्रतिशत लोग धूम्रपान करते हैं, इसका सही आकलन, उससे होने वाली बीमारियों की सूचना और संभावित प्रलय की स्पष्ट चेतावनी के बावजूद तम्बाकू पर प्रतिबन्ध नहीं लगा, इसके क्या कारण हो सकते हैं? कारणों की मीमांसा का कार्य ‘विश्व स्वास्थ्य संगठन’ अथवा ‘केयर फाउण्डेशन ऑफ इंडिया’ जैसे संगठन कर सकते हैं। हमारे पास न तो इतनी सुविधा है और न इस विषय के विशेषज्ञों के साथ कभी कोई चर्चा हो पाई। फिर भी मेरी दृष्टि में इसका एक ही कारण हो सकता है। वह है आर्थिक लाभ। तम्बाकू के प्रयोग से निर्मित पदार्थों का उत्पादन करने वाली कम्पनियों का अपना व्यामोह है। उनको विज्ञापित करने वाली कम्पनियों या व्यक्तियों का अपना स्वार्थ है। जन-स्वास्थ्य के मूल्य पर बढ़ता जा रहा यह

१३८ : दीये से दीया जले

व्यवसाय क्या आर्थिक पागलपन का प्रतीक नहीं है?

किसी घटना-दुर्घटना में दस-बीस व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है, उस ओर अविलम्ब ध्यान चला जाता है। घटना की जांच के लिए विशेष आदेश दिए जाते हैं। लोकसभा, राज्यसभा और विधानसभाओं में उस प्रसंग को उठाया जाता है। समाचारपत्रों में भी वह संवाद सुर्खियों में छापा जाता है। पर जिस घटना में करोड़ों लोगों का जीवन मौत के साये में आ रहा है, उसके बारे में किसी को कोई चिन्ता नहीं है। यह आश्चर्य नहीं तो क्या है?

विकसित देशों में तम्बाकू की खपत घट रही है और विकासशील देशों में बढ़ रही है। भारत के लिए यह कहा जाता है कि वह 'फोरेन रिटर्न' विचार और वस्तु को महत्त्व देता है। क्या तम्बाकू के बारे में भारतीय लोगों की सोच भिन्न प्रकार की है। विश्व में शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित देशों में तम्बाकू के प्रति नजरिया बदल रहा है तो भारत पर उसका प्रभाव क्यों नहीं हुआ?

धूम्रपान की प्रवृत्ति महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में अधिक देखी जाती है। विकासशील देशों में तो यह अनुपात और भी कम है। इस अन्तर को पाटने के लिए एक नया षड्यंत्र हो रहा है। महिलाओं में सिगरेट पीने की प्रवृत्ति बढ़े, इस उद्देश्य से विशेष प्रकार की सिगरेटों का निर्माण किया जा रहा है। भोली-भाली महिलाएं इस षड्यंत्र में फंसें, यह भी चिन्ता का विषय है। किन्तु षड्यंत्रकारी इतने दक्ष हैं कि संपन्न और शिक्षित महिलाओं को अपनी गिरफ्त में ले रहे हैं। महिलाओं में यदि थोड़ी भी समझ या सजगता होगी तो वे इस षड्यंत्र से बच सकेंगी, ऐसा विश्वास है। अन्यथा उनके कारण पूरा परिवार विनाश के कगार पर पहुंच जाएगा।

६४. विकास का अन्तिम शिखर

मनुष्य विकास की अभिलाषा रखता है। विकास के लिए वह नई-नई खोजें करता है। विज्ञान के क्षेत्र में हुई खोजों के आधार पर वह विकास के नए-नए शिखरों पर आरोहण कर रहा है। जलमार्ग, स्थलमार्ग और आकाशमार्ग पर उसकी अबाध गति विकास का एक पैमाना है। विकासयात्रा के एक पड़ाव पर वह विश्व के किसी भी भाग में घटित होने वाली घटना के बारे में उसी समय पूरी जानकारी पा सकता है। उस घटना के श्रव्य भाग को सुन सकता है और दृश्य भाग को देख सकता है। इस प्रक्रिया में वह किसी लिखित संवाद को भी एक क्षण में लाखों किलोमीटर दूर भेज सकता है। अणु और विद्युत् की ऊर्जा के बल पर मनुष्य आज ऐसे कार्य कर रहा है, जिनकी उसके पूर्वजों ने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

मनुष्य के मन में विकास की जो अवधारणा है, उसके परिप्रेक्ष्य में वह इसी कोटि के काम कर सकता है, जिनके बारे में संक्षिप्त-सी सूचना दी गई है। विकास के इस रूप को नेपथ्य में ले जाना मुझे अभीष्ट नहीं है। पर मैं आगाह करना चाहता हूँ कि विकास का अंतिम शिखर इस मार्ग पर नहीं है। विश्व के वैज्ञानिक जिस रास्ते पर चल रहे हैं, हजारों वर्ष की साधना के बाद भी उस शिखर पर नहीं पहुंच पाएंगे। पहुंचना तो बहुत दूर की बात है, उसे छूना या देखना भी संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में उस मार्ग को खोजना बहुत आवश्यक है, जहां से विकास के अंतिम शिखर को देखा जा सके।

आप्त पुरुषों ने मोक्ष या निर्वाण को विकास का ऐसा पड़ाव माना है, जहां पहुंचने के बाद सारे रास्ते खो जाते हैं। उससे आगे कोई मंजिल नहीं है, फिर रास्ते कहां होंगे। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले सभी दर्शन मोक्ष की सत्ता को मान्य करते हैं। मोक्ष का एक ही रास्ता है। वह

है ज्ञान, तप और संयम की समन्विति। अकेला ज्ञान अहंकार पैदा करता है। अकेला तप कष्टों की अंधेरी खोह में ले जाकर छोड़ता है और अकेला संयम भावनाओं का दमन करता है। अहंकार, कष्ट और दमन के रास्ते अवरोहण के रास्ते हैं। आरोहण के लिए तीनों के समायोजन की अपेक्षा है।

ज्ञान का काम है प्रकाश करना। प्रकाश होने पर पता लगता है कि कहां क्या है और कहां क्या नहीं है। कहां उपयोगी चीजें हैं और कहां कचरा भरा है। कहां व्यवस्थाएं ठीक हैं और कहां अव्यवस्था हो रही है। अंधेरे में किसी चीज का सम्यक् अवबोध नहीं हो पाता, इसलिए प्रकाश जरूरी है।

तप का काम है शोधन। कचरे के ढेर का शोधन उसे जलाने से होता है। आत्मा कचरे के ढेर से मलिन है। उसकी शुद्धि के लिए तप की ज्योति को प्रज्वलित करना होगा। जब तक आन्तरिक और बाह्य तप की ज्योति नहीं जलेगी, आत्मा का शोधन नहीं होगा।

तपस्या से शुद्ध आत्मा पुनः मलिन न हो, इसलिए कचरा आने के रास्तों को बन्द करना होगा। यह काम संयम का है, चारित्र्य का है। संयम निरोधक है। जहां संयम खड़ा है, वहां किसी अवांछित या असामाजिक तत्त्व की घुसपैठ नहीं हो सकती। इस समग्र चर्चा का सार इन चार पंक्तियों में आ जाता है--

णाणं पयासगं,
सोहगो तवो संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हंपि समाजोगे,
मोक्खो जिणसासणे भणिओ॥

६५. अणुव्रत का रचनात्मक रूप

किसी भी आन्दोलन के मुख्यतः दो रूप होते हैं-- प्रचारात्मक और रचनात्मक। अणुव्रत का कौन-सा रूप उजागर हो रहा है? इस प्रश्न पर विचार करते समय उसका प्रचारात्मक रूप उभरकर सामने आता है। जाति, सम्प्रदाय, देश, भाषा, वेशभूषा आदि से अप्रतिबद्ध एक जागृत विचारधारा का नाम है अणुव्रत। इसकी प्रतिष्ठा एक असाम्प्रदायिक धर्म के रूप में हो चुकी है। मानवीय मूल्यों के प्रति आस्थाशील लोगों की आकांक्षा अणुव्रत से ही पूरी हो सकती है। इसलिए इसके प्रचार-प्रसार में कहीं किसी प्रकार का अवरोध नहीं है।

प्रचार उपयोगी तत्त्व है, पर आचार का मूल्य सर्वोपरि है। अणुव्रत की विचारधारा व्यक्ति, परिवार और समाज के आचरण में उतरे, यह उसका रचनात्मक स्वरूप है। अणुव्रत का प्रचारात्मक कार्य ठीक गति से चल रहा है। वह चलने का है। उसके रचनात्मक रूप को बल मिले, यह अपेक्षा तीव्रता से अनुभव की जा रही है। इस वर्ष अणुव्रत समिति, लाडनूं ने यह बीड़ा उठाया है। उसका लक्ष्य है-- लाडनूं तहसील में अणुव्रत आचारसंहिता को लोकव्यापी बनाना। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अणुव्रती कार्यकर्ताओं ने अभियान शुरू कर दिया है। वे लाडनूं के विभिन्न मोहल्लों और आसपास के गांवों में जाते हैं, लोगों से मिलते हैं, अणुव्रत के बारे में चर्चा करते हैं, लोगों की समस्याएं सुनते हैं और उनका हल निकालने का प्रयास करते हैं। इससे ग्रामीण लोगों में अणुव्रत के प्रति आकर्षण पैदा हुआ है। वे कहते हैं-- 'हमारे यहां वोट लेने वाले तो बहुत बार आते हैं, पर हमारी समस्याओं पर ध्यान देने वाले पहली बार आए हैं।'

लाडनूं के निकट एक गांव है-- कासन। अणुव्रत समिति, लाडनूं ने उसे

आदर्श गांव बनाने का प्रयास शुरू किया है। उसकी कल्पना में आदर्श गांव का स्वरूप यह है--

- गांव में कहीं शराब का नाम-निशान न रहे।
- गांव के सब लोग व्यसन-मुक्त बनें।
- गांव में कोई भूखा न रहे। इसके लिए गरीब लोगों को भीख देकर भिखमंगा नहीं बनाना है। उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने में सहयोग देकर स्वाभिमान के साथ जीना सिखाना है।
- गांव में कहीं गन्दगी न रहे, इसलिए स्वच्छता का अभियान जारी रखना है।
- गांव में परस्पर प्रेम और सौहार्द का वातावरण रहे। कभी दंगे-फसाद न हों। छोटे-मोटे झगड़े को लेकर कोई कोर्ट-कचहरी में न जाए।

आदर्श गांव के निर्माण का काम अच्छे ढंग से चल रहा है। अभी यह प्रयोग एक गांव में हो रहा है। हर क्षेत्र के अणुव्रती कार्यकर्ता गांव-गांव में जाकर अलख जगाएं और अणुव्रत गांव बनाएं। यह काम बातें करने या भाषण देने से होने वाला नहीं है। इसके लिए खपना जरूरी है। वर्तमान की मानसिकता में यही कठिन लगता है। कवि ने वर्तमान मानसिकता का कितना यथार्थ चित्रण किया है--

बातां साटे हर मिलै तो म्हानै ही कहिज्यो।

माथां साटे हर मिलै तो छाना-माना रहिज्यो॥

मनुष्य आत्मा एवं परमात्मा से साक्षात्कार करना चाहता है, परमात्मा को पाना चाहता है, पर उसके लिए बलिदान करना नहीं चाहता। इस दृष्टि से वह कहता है--'यदि बातों-बातों से भगवान् मिले तो ऐसा रास्ता हमें बताओ। यदि उसके लिए सिर देने की नौबत आए तो हमसे दूर ही रहना, हमारे सामने मत आना।'

इस प्रकार की मनःस्थिति को बदलने वाले कार्यकर्ता ही अणुव्रत के रचनात्मक रूप को प्रतिष्ठित करने में सफल हो सकते हैं। इसके लिए केवल लाडलू तहसील या कासन गांव पर ही ध्यान देना पर्याप्त नहीं है। जहां-जहां अणुव्रत समितियां हैं, उनमें थोड़ी भी सक्रियता हो तो इस अभियान को देश भर में अच्छे ढंग से चलाया जा सकता है।

अणुव्रत का रचनात्मक रूप : १४३

६६. जिज्ञासा : समाधान

जिज्ञासा—आज राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अणुव्रत मानव धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। उसकी यह प्रतिष्ठा वैचारिक स्तर पर अधिक है। क्या उसे व्यावहारिक रूप में प्रतिष्ठित करने की भी कोई योजना है?

सामधान—कोई भी आंदोलन वैचारिक रूप में सक्षम होने के बाद ही व्यवहार में उतरता है। आचार-शास्त्र के मीमांसकों ने इस तथ्य पर बल दिया है कि आचार व्यवहार में आने से पहले विचारों की धरती पर अंकुरित हो। वैचारिक पृष्ठभूमि के बिना आचार के पथ पर बढ़े हुए व्यक्ति कभी भी फिसल सकते हैं। वैचारिक धरातल ठोस हो जा जाए तो फिसलन की संभावनाएं कम हो जाती हैं। इस दृष्टि से किसी भी कार्यक्रम को लागू करने से पहले वैचारिक क्रान्ति की अपेक्षा रहती है। विचार पक्ष सही होता है तो किसी भी उपयुक्त समय में उसे प्रायोगिक बनाया जा सकता है।

यह सच है कि अणुव्रत का विचार पक्ष बहुत पुष्ट और व्यापक बना है। इसी कारण अणुव्रत आन्दोलन जीवित है। इसके समकक्ष और समकालीन व्यवहार शुद्धि, सर्वोदय, मोरल रिआर्मिंट आदि आन्दोलनों की आज कहीं कोई चर्चा भी नहीं है, जबकि अणुव्रत के स्वर अब तक बुलन्दी पर हैं। यह चिन्तन भी उचित है कि अब इसे व्यवहार के सांचे में ढालना चाहिए। किन्तु किसी भी विचार को व्यवहार में ढालना कितना कठिन है, इस बात को सब जानते हैं। कोई विचार शत प्रतिशत व्यावहारिक बन जाए, यह संभव भी नहीं है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि विचार आकाशीय उड़ान भरें और आचार पाताल में ही दबा रह जाए।

तीर्थकरों ने अहिंसा का दर्शन दिया। बहुत दृढ़ता और स्पष्टता से अहिंसा के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। फिर भी हिंसा का अस्तित्व ज्यों

का त्यों है। हिंसा की सत्ता को चुनौती नहीं दी जा सकती, पर मनुष्य की हिंसक मनोवृत्ति में थोड़ी भी दुर्बलता आती है तो वह हिंसक के प्रयोग का परिणाम है। आज की मानसिकता में निःशस्त्रीकरण, शस्त्र परिसीमन और युद्ध को टालने जैसे मनोभाव अहिंसा की व्यावहारिक फलश्रुति नहीं है तो क्या है?

अणुव्रत के क्षेत्र में कोई प्रयोग नहीं हो रहा है, ऐसी बात भी नहीं है। अणुव्रत प्रशिक्षण शिविरों में अणुव्रत दर्शन को जीवनस्पर्शी बनाने का प्रशिक्षण बराबर दिया जा रहा है। अणुव्रत आचारसंहिता केवल उपदेश की वस्तु बनकर न रह जाए, इसी दृष्टि से प्रेक्षाध्यान पद्धति का आविर्भाव हुआ। जीवनविज्ञान का भी यही उद्देश्य है। सन् १९६० के वर्ष को अणुव्रत वर्ष के रूप में मनाने के पीछे भी यही दृष्टिकोण रहा है। अणुव्रत का वैचारिक पक्ष पूर्ण रूप से व्यावहारिक बन जाएगा, यह अति कल्पना है। उसे जितना व्यावहारिक बनाया जा सकता है, उसके लिए प्रयास जारी है।

जिज्ञासा—आर्थिक असदाचार के युग में आम आदमी अणुव्रत की आचारसंहिता को स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव करता है। क्या इस सन्दर्भ में अणुव्रत के पास कोई व्यावहारिक रास्ता है?

समाधान—जो लोग कठिनाई का अनुभव करते हैं, उन्होंने अणुव्रत की आचारसंहिता को गहराई से समझने का प्रयास नहीं किया। प्रत्येक व्रत को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाए तो यह कठिनाई समाप्त हो सकती है। हम जानते हैं कि आज की परिस्थितियों में कठोर व्रतों को लेकर चलना सीधा काम नहीं है। इस दृष्टि से आचारसंहिता के निर्धारण में पूरा ध्यान दिया गया है। उदाहरण के रूप में रिश्वत लेना और देना—दोनों अपराध हैं, आर्थिक असदाचार हैं। किन्तु वर्तमान युग में रिश्वत लेना जितना सरल है, न देना उतना ही कठिन है। इसलिए अणुव्रत की सीमा है—‘रिश्वत नहीं लूंगा।’ रिश्वत देना नैतिकता नहीं है। फिर भी इसे अणुव्रत की प्रथम भूमिका में निषिद्ध नहीं माना गया। क्योंकि आम आदमी ऐसा किए बिना सुविधा से जी नहीं सकता। यही बात प्रामाणिकता की है। उसकी भी अपनी सीमा है। अणुव्रत के वर्गीय नियमों से उस सीमा का बोध किया जा सकता है।

कुछ कानून भी ऐसे हैं, जो व्यक्ति को आर्थिक असदाचार की दिशा में धकेलते हैं। टैक्सों को लेकर लोग ऐसी ही समस्या का अनुभव करते हैं। अणुव्रत ने प्राथमिक रूप में इस क्षेत्र में भी कोई दखलन्दाजी नहीं की। वास्तव में अणुव्रत किसी ऐसे आदर्श की बात नहीं करता, जिस पर कोई आदमी चल ही न सके। कठिनाई का जहां तक प्रश्न है, कुछ तो त्याग करना ही होगा। जीवन में कठिनाई आए ही नहीं तो व्रती बनने और न बनने में अन्तर क्या रहेगा? जिस युग में ऐसी कोई कठिनाई नहीं होगी, उस युग में अणुव्रती बनने का अर्थ ही क्या होगा? मुझे ऐसा लगता है कि व्रत पालन में आने वाली कठिनाइयों से भी अधिक कठिनाई मानसिक दुर्बलता की है। मनोबल प्रबल हो तो अणुव्रत का मार्ग सीधा राजमार्ग प्रतीत हो सकता है।

जिज्ञासा—क्या अणुव्रत का दर्शन व्यक्ति के अर्थप्रधान दृष्टिकोण को बदलने में सक्षम है? क्योंकि ऐसा हुए बिना प्रगति वस्तुतः प्रतिगति ही होती है?

समाधान—अणुव्रत का दर्शन जीवन के किसी एक ही विकृत दृष्टिकोण के परिमार्जन का लक्ष्य लेकर निर्धारित नहीं हुआ है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, पारिवारिक और वैयक्तिक—सभी क्षेत्रों में घुसी हुई विकृतियों का सुधार करना अणुव्रत का लक्ष्य है। आज स्थिति ऐसी बन गयी है कि जीवन का कोई भी पक्ष निर्मल नहीं रहा है। अर्थप्रधान दृष्टिकोण ने सिद्धांतों और नीतियों को भी ताक पर रख दिया है। स्वार्थ-चेतना का सूरज इतना तेज प्रकाश फेंकता है कि मनुष्य की आंखें चुंधिया गई हैं। अणुव्रत का दर्शन स्पष्ट है, निर्विवाद है। उसका प्रयोग परस्मैपद की भाषा में न होकर आत्मनेपद की भाषा में हो, यह आवश्यक है। अर्थप्रधान दृष्टिकोण को बदलने का सबसे छोटा, सीधा और कारगर प्रयोग यह है कि अर्थ को जीवन का साध्य नहीं, जीवनयापन का साधन मात्र माना जाए।

जिज्ञासा—अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय वर्तमान युग की प्रबल अपेक्षा है। अणुव्रत अध्यात्म के हिमालय से प्रवाहित एक स्रोत है। क्या उसकी कोई वैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी है?

समाधान—अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का एक छोटा-सा उदाहरण है अणुव्रत। भगवान् महावीर महान् वैज्ञानिक थे। उन्होंने प्रयोगशाला में

बैठकर कोई प्रयोग भले ही नहीं किया हो, पर उनके अनुभव की प्रयोगशाला बहुत बड़ी और बहुत समृद्ध थी। उन्होंने जड़ और चेतन—दोनों तत्त्वों पर बहुत काम किया। पुद्गल और जीव के बारे में उन्होंने जितनी सूक्ष्म और विशद अवधारणाएं दीं, कोई भी वैज्ञानिक अब तक भी वहां नहीं पहुंच पाया है। पुद्गल के अंतिम अविभागी अंश परमाणु के बारे में विज्ञान अब भी मौन है। आत्मा तो उसके यंत्रों का विषय बन ही नहीं सकती।

व्रत अपने आप में एक वैज्ञानिक अवधारणा है। पदार्थों की सीमा है। इच्छाएं असीमित हैं। ससीम और असीम की टकराहट के बीच भोगोपभोग की सीमा का सिद्धांत एक वैज्ञानिक सचाई से साक्षात्कार कराता है। पर्यावरण की सुरक्षा के लिए विज्ञान के स्वर अब मुखर हुए हैं, जबकि भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले ही पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के संयम का सूत्र दे दिया था। एक दृष्टि से हम अध्यात्म और विज्ञान को विभक्त कर ही नहीं सकते। विज्ञान नियमों के आधार पर चलता है। अध्यात्म के भी अपने नियम हैं। विज्ञान ने पदार्थ के नियम खोजे हैं और अध्यात्म ने चेतना के नियम खोजे हैं। दोनों की खोज अब भी जारी है।

अणुव्रत कोई काल्पनिक तत्त्व नहीं है। भगवान् महावीर ने धर्म के वर्गीकरण में अणुव्रत शब्द का प्रयोग किया। हमने वहीं से इस शब्द को ग्रहण किया है। इसकी अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ही इसकी वैज्ञानिकता को समझा जा सकता है। विज्ञान का सम्बन्ध केवल लेबोरेटरी में होने वाले प्रयोगों से ही है तो हमें यह स्वीकार करने में भी संकोच नहीं है कि अणुव्रत की ऐसी कोई प्रयोगशाला नहीं है। इसकी एक मात्र प्रयोगशाला है मनुष्य का जीवन।

जिज्ञासा—जितने धर्म-सम्प्रदाय हैं, वे सब अपनी-अपनी सीमा में काम करते हैं। उन सबका स्वतन्त्र अस्तित्व है। ऐसी स्थिति में सहिष्णुता-असहिष्णुता का प्रश्न ही क्यों उठाया जाता है?

समाधान—सम्प्रदाय का निर्माण किसी विशेष मान्यता पर होता है। मनुष्य अपनी मान्यता के परिप्रेक्ष्य में अधिक सोचता है। इसीलिए दूसरी मान्यता के प्रति उसके मन में बौखलाहट पैदा हो जाती है। वह इस बात को सहन नहीं कर पाता कि अपने विचारों से विरोधी विचार उसके सामने

आएं। हर साम्प्रदायिक व्यक्ति को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता की बात मान्य है, पर अपने से भिन्न विचारों के प्रति उसकी कोई सहानुभूति नहीं है। दूसरे सम्प्रदाय का व्यक्ति अपने सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट होकर धर्म-परिवर्तन करता है, उसे उदारचेता, स्वतन्त्र चिन्तन का पक्षपाती, निर्भीक, साहसिक आदि उपाधियों से सम्मानित किया जाता है। किन्तु अपने सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति सकारण धर्म-परिवर्तन करता है तो भी उसे बुरा माना जाता है। इससे सम्प्रदायवाद का विष फैलता है और धर्म जैसा शुद्ध तत्त्व विकृत हो जाता है। इसलिए सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु बने रहने की बात हर व्यक्ति के अपने हित में है। असहिष्णु मनोवृत्ति घृणा, स्पर्धा और ईर्ष्या के मनोभावों का सृजन करती है। जिस समय जो व्यक्ति या सम्प्रदाय शक्तिसम्पन्न होता है, जिसका जन-बल-प्रबल होता है, वह विरोधी बात पसन्द नहीं करता और दूसरों के स्वतंत्र अस्तित्व में बाधा उत्पन्न कर देता है। इसलिए सहिष्णुता का विकास आवश्यक है।

जिज्ञासा—विभिन्न सम्प्रदायों का अस्तित्व सहिष्णुता के लिए कसौटी है। यदि सम्प्रदाय समाप्त हो जाये तो सहिष्णुता किसके प्रति होगी? किन्तु सम्प्रदायवाद के रहते हुए असहिष्णुता का अन्त कैसे सम्भव है?

समाधान—मेरी दृष्टि में सम्प्रदायवाद और असहिष्णुता दो भिन्न स्थितियां नहीं हैं। मेरे सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त ही यथार्थ हैं, यह चिन्तन सम्प्रदायवाद है और आगे जाकर यही असहिष्णुता में परिणत हो जाता है। असहिष्णुता का अन्त संभव है। वर्तमान परिस्थिति के सन्दर्भ में इसकी संभावना काफी बढ़ रही है। कोई भी समाज, राज्य या जाति असहिष्णु बनकर अपना हित नहीं साध सकती। असहिष्णुता के भयंकर दुष्परिणामों ने मनुष्य की चेतना को झकझोर डाला है। आज सहिष्णुता का मूल्य आंका जा रहा है और अतीत की अपेक्षा उसका क्षेत्र भी व्यापक बना है।

सहिष्णुता का प्रचार शिष्ट समाज के उच्च चिन्तन की धारा है। सहिष्णुता का स्वर प्रबल होने से व्यक्ति में सिद्धान्त के अनुरूप धारणा का निर्माण हुआ है। भावी पीढ़ी के संस्कार इस विचार-सरणि से प्रभावित हैं। अतः परम्परा-सापेक्षता, सम्मान और विचार-विनिमय का क्षेत्र खुल रहा है।

१४८ : दीये से दीया जले

विरोधी बात को भी इस दृष्टि से स्वीकार किया जा सकता है कि हर व्यक्ति को स्वतन्त्र चिन्तन का अधिकार है। किसी विरोधी तथ्य का अस्वीकार भी हो सकता है, पर उसके प्रति असहिष्णुता से व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्रता का हनन हो जाता है।

सहिष्णुता की भी अपनी मर्यादा है। सामने वाला व्यक्ति या समाज एक व्यक्ति के सिद्धान्त या विचारों पर सीधा आक्रमण करता है, उसे सहना बहुत कठिन है। व्यक्ति की अपनी मान्यता कुछ भी हो सकती है, पर दूसरों की मान्यता के प्रति कीचड़ उछालना असहिष्णुता है।

असहिष्णुता की यह मनोवृत्ति धार्मिकों में अधिक होती है। राजनीति या समाजनीति में यह क्रम नहीं है, ऐसी बात नहीं। किन्तु वहां असहिष्णु होना आश्चर्य नहीं है। धर्म के प्रतिनिधि सहिष्णुता को आदर्श मानकर चलते हैं, इसलिए उनकी असहिष्णुता असह्य हो जाती है। असहिष्णुता की निष्पत्ति आती है तोड़फोड़, मार-काट और विरोधी विचारों वाले व्यक्तियों को समाप्त करने की भावना। क्या धर्म मनुष्य को यह सब सिखा सकता है? धर्म मनुष्य को सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता है। सहिष्णुता का विकास होने से ही सम्प्रदायवाद का अन्त हो सकेगा।

जिज्ञासा—सहिष्णुता और असहिष्णुता की निष्पत्तियां क्या हैं?

समाधान—सहिष्णु समाज स्वतन्त्रता-प्रिय और उदारता-प्रधान होगा और उसमें दूसरों को खपाने की योग्यता होगी। जो समाज दूसरों को खपा सकता है, वह समर्थ और व्यापक बन सकता है। संस्कृति, जाति, भाषा, प्रान्त आदि की भिन्नता होने पर भी परस्पर सौहार्द से रहने वाला समाज कभी विघटित नहीं होता। विभिन्न वर्गों में विभाजित शक्ति भी एक अखण्ड मानव-समाज के हितों में अपना अमूल्य योग दे सकती है। अखण्डता की अनुभूति उस समाज की व्यापकता की प्रतीक है।

असहिष्णुता से पृथक्करण की मनोवृत्ति को बल मिलता है। हिन्दुस्तान में इस वृत्ति ने जातीय संघर्ष के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी, जाति के नाम पर लड़ाइयां लड़ी गयीं और एक अविभाजित मानवजाति विघटित हो गयी। असहिष्णुता की निष्पत्ति कभी अच्छी हो नहीं सकती। इससे व्यक्ति के मिथ्या अभिनिवेश का पोषण हो सकता है, अन्त नहीं। मिथ्या अभिनिवेश सामाजिक,

पारिवारिक और वैयक्तिक शान्ति के लिए खतरा है। इसलिए अणुव्रत ने सहिष्णुता का व्रत प्रस्तुत किया। धर्म-सम्प्रदायों में इस व्रत का व्यापक प्रयोग हो, यह वर्तमान की सबसे बड़ी अपेक्षा है।

जिज्ञासा—हिंसात्मक परिस्थिति का अहिंसात्मक प्रतिकार करने के लिए व्यक्ति में किन विशेषताओं का होना अपेक्षित है?

समाधान—अहिंसात्मक प्रतिकार के लिए व्यक्ति में सबसे पहले असाधारण साहस होना नितांत अपेक्षित है। साधारण साहस हिंसा की आग देखकर कांप उठता है। जहां मन में कंपन होता है, वहां स्थिति का समाधान हिंसा में दिखायी पड़ता है। दर्शन का यह मिथ्यात्व व्यक्ति को हिंसा की प्रेरणा देता है। हिंसा और प्रतिहिंसा की यह परम्परा बराबर चलती रहती है। इस परम्परा का अंत करने के लिए व्यक्ति को सहिष्णु बनना जरूरी है। सहिष्णुता के अभाव में मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। मन संतुलित न हो तो अहिंसात्मक प्रतिकार की बात समझ में नहीं आती, इसलिए वैचारिक सहिष्णुता की बहुत अपेक्षा रहती है।

कुछ व्यक्ति विरोधी विचारों को सह सकते हैं, किन्तु उनमें कष्ट-सहिष्णुता नहीं होती। थोड़ी-सी शारीरिक यातना से घबराकर वे अपने लक्ष्य से भटक जाते हैं। यातना की संभावना मात्र से वे विचलित हो जाते हैं, हिंसात्मक परिस्थिति के सामने घुटने टेक देते हैं। जो व्यक्ति कष्ट-सहिष्णु होते हैं, वे विषम स्थिति में भी अन्याय और असत्य के सामने झुकने की बात नहीं करते। ऐसे व्यक्ति अहिंसात्मक प्रतिकार में अधिक सफल होते हैं। उनकी कष्ट-सहिष्णुता इतनी बढ़ जाती है कि वे मृत्यु तक का वरण करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। जिन व्यक्तियों को मृत्यु का भय नहीं होता, वे सत्य की सुरक्षा के लिए सब कुछ कर सकते हैं। प्रतिरोधात्मक अहिंसा का प्रयोग इन्हीं व्यक्तियों द्वारा किया गया है।

जिज्ञासा—तोड़फोड़मूलक विध्वंसक प्रवृत्तियों से समाज को बचाने के लिए हिंसक व्यक्तियों की मांग स्वीकार कर लेनी चाहिए अथवा उनके साथ संघर्ष करते रहना चाहिए?

समाधान—व्यक्ति तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियों का सहारा लेता है अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए। पर उससे उसकी दुर्बलता को अभिव्यक्ति मिलती

है। कोई भी सक्षम व्यक्ति अपनी मांग पूरी कराने के लिए हिंसा को प्रश्रय नहीं दे सकता। अहिंसक व्यक्ति के लिए ऐसी स्थिति में औचित्य, अनौचित्य का निर्धारण करना बहुत जरूरी है। यदि मांग में औचित्य है तो उसे स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए अन्यथा हिंसा के सामने झुकना सिद्धांत की हत्या करना है। दूरगामी कठिनाइयों की बात सोचकर हिंसा के सामने घुटने टेकना कायरता है। कायरता उतना ही बड़ा पाप है, जितना बड़ा हिंसा का पाप। कायर व्यक्ति सहन नहीं कर सकता और सहिष्णु कभी कायर नहीं हो सकता। कायरता और सहिष्णुता, ये दो भिन्न दिशाएं हैं। एक व्यक्ति इन दोनों दिशाओं में एक साथ नहीं गुजर सकता। हिंसात्मक स्थितियों से डटकर मुकाबला करने के लिए सहिष्णुता का विकास होना बहुत अपेक्षित है। कायरता का मनोभाव हिंसा के साथ समझौता करता है अथवा व्यक्ति की वृत्तियों को हिंसा की ओर बढ़ने के लिए उत्तेजित करता है। इसलिए संघर्ष में कायरता का परिचय व्यक्ति की पहली पराजय है।

कभी-कभी औचित्य के आधार पर भी तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियां होती हैं। मेरी दृष्टि में यह स्वस्थ पद्धति नहीं है। इसे हम विवशता या बाध्यता मानकर छोड़ सकते हैं, करणीय नहीं मान सकते। हिंसा और अहिंसा का यह द्वन्द्व शांत हो सकता है, किन्तु यह शांति हिंसा के सामने झुकने से नहीं, उसके साथ संघर्ष करने से प्राप्त होती है। संघर्ष के बाद जो शांति मिलती है, वह अहिंसा की उपादेयता को सिद्ध करती है। हिंसा के साथ समझौता करने से एक बार ऐसा अनुभव होता है कि वातावरण शांत हो रहा है, पर कुछ समय बाद वह और अधिक उग्र हो जाता है। अतः मैं यह मानकर चलता हूँ कि संघर्ष हो या समझौता, उसमें औचित्य का लंघन नहीं होना चाहिए। वस्तुतः सैद्धांतिक आधार से निर्मित स्थिति ही संघर्ष-मुक्ति का साधन है।

जिज्ञासा—आज आतंकवाद के क्षेत्र में अपहरण की नई संस्कृति तेजी के साथ पनप रही है। आपकी दृष्टि में इसका मूल कारण क्या है? और उसका समाधान कैसे किया जा सकता है?

समाधान—अपहरण की संस्कृति सत्ता और सम्पदा की आकांक्षा का फलित है। सत्ता हथियाने के लिए और सम्पदा बटोरने के लिए आतंकवाद

अस्तित्व में आया। शस्त्रशक्ति और आतंकवाद के सघन प्रशिक्षण से एक वर्ग में क्रूरता पनपी। उस क्रूरता की एक अभिव्यक्ति है अपहरण। किसी राजनयिक या महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का अपहरण कर उसकी फिरौती में अनेक आतंकवादियों की रिहाई और सम्पन्न व्यक्ति की फिरौती में लाखों रुपये वसूलने का मनोभाव अपहरण की मूलभूत प्रेरणा है।

आतंकवाद या अपहरण-नीति की पृष्ठभूमि में कई कारण हो सकते हैं। उनमें एक कारण है आर्थिक विषमता। कहीं-कहीं वैषम्य इतना अधिक है कि एक ही स्थान पर स्वर्ग और नरक दोनों को देखा जा सकता है। एक व्यक्ति के पास अट्टालिकाएं हैं, दूसरे व्यक्ति के सिर पर छत भी नहीं है। वह अपनी जिन्दगी फुटपाथ पर बिताता है। एक ओर भोजन पचाने के लिए गोली खानी पड़ती है, दूसरी ओर पेट पालने के लिए पूरा भोजन नहीं मिलता। एक ओर दिन में चार बार ड्रेस का परिवर्तन होता है तथा तीन सौ साठ दिनों के लिए दिनों की संख्या से भी अधिक ड्रेसेज होती हैं। दूसरी ओर तन ढकने के लिए पूरा वस्त्र नहीं मिलता। यह विषमता विद्रोह को जन्म देती है।

विद्रोही व्यक्ति क्रूर बन जाता है। क्रूरता सीमा को पार कर जाती है तो व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। प्राचीन काल में राहजनी और हत्या जैसे अपराध होते थे। इस दिशा में मनुष्य नए-नए रास्ते खोजता जा रहा है। अपहरण में खतरे कम हैं और लाभ अधिक हैं। लोगों की दृष्टि में यह एक सीधा-सरल व्यवसाय हो गया है। एक-दो बार की सफलता व्यक्ति का हौसला बढ़ा देती है। इस संस्कृति ने मनुष्य की निश्चिन्तता और निर्भयता समाप्त कर दी।

कोई भी बीमारी बढ़ जाती है, उग्र रूप धारण कर लेती है तो उसे मिटाने में जोर पड़ता है। समय, श्रम और अर्थ लगाने पर भी बीमारी मिटे या नहीं, कोई गारंटी नहीं देता। अपहरण की संस्कृति भी एक ऐसी ही असाध्य बीमारी का रूप लेती जा रही है। बीमारी मिटे या नहीं, प्रयत्न करना जरूरी है। जैन दर्शन में अवसर्पिणी काल का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार श्रेष्ठताओं का उत्तरोत्तर हास होता जाता है। वह हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। इस स्थिति में मनुष्य सादगी, श्रम और संयम का पाठ पढ़े।

१५२ : दीये से दीया जले

जन-जन के मन में अहिंसा और आत्मसंयम के संस्कार जागे, यही इस समस्या का समाधान हो सकता है।

जिज्ञासा—राजनीति के मंच से उभरने वाले आरक्षण के नए प्रकल्प ने छात्रों के आक्रोश को अभिव्यक्त होने का एक मौका दिया है। उनका यह कदम निश्चित रूप से बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। क्या इसके विकल्प में उनके सामने कोई नया विचार रखा जा सकता है?

समाधान—राजनीति के मंच से कोई भी बात उठती है, उसे राजनीति के रंग से रंग दिया जाता है। आरक्षण के नाम पर छात्रों में जो आक्रोश उभरा या उभारा गया है, वह सुचिन्तित कम है और उत्तेजनात्मक अधिक है। मुझे ऐसा लगता है कि विद्यार्थियों में नई साम्प्रदायिकता पैदा की जा रही है। कुछ लोगों की ऐसी मनोवृत्ति होती है कि वे हर बात को आन्दोलन का रूप दे देते हैं। लाभ-अलाभ पर विचार किए बिना किसी भी आन्दोलन को गति देना अपने पांवों पर कुल्हाड़ी चलाना है।

छात्रों को कुछ करना ही है तो उनके सामने बहुत रचनात्मक काम हैं। आवश्यकता एक ही है कि वे प्रवाहपाती बनकर अपने कीमती जीवन को व्यर्थ न खोएं। उनके सामने एक बड़ा काम है नशा-मुक्ति का अभियान। नशे की संस्कृति ने विद्यार्थियों का कितना अहित किया है, किसी से, अज्ञात नहीं है। भ्रष्टाचार पर किसी का अंकुश ही नहीं रहा है। सामाजिक बुराइयों भी नए-नए चेहरे बनाकर प्रकट हो रही हैं। इन सबके विरोध में युवा शक्ति का सम्यक् नियोजन हो तो एक बड़ी क्रान्ति घटित हो सकती है और देश का भला हो सकता है। केवल आन्दोलन की सीढ़ियों के सहारे निर्माण के शिखर पर आरोहण नहीं हो सकता।

जिज्ञासा—सामाजिक विकास को गति देने के लिए क्या आप आरक्षण की नीति को उपयोगी मानते हैं?

समाधान—जातीयता के आधार पर आरक्षण का सवाल विवादास्पद बन जाता है। जाति, सम्प्रदाय, अल्पसंख्यक आदि मुद्दों से मुक्त होकर केवल देश के कमजोर तबके को उठाने के लिए कोई उपक्रम सोचा जाता है, उसे गलत नहीं कहा जा सकता। राष्ट्र के सब नागरिक ऊंचे स्तर का जीवन जी रहे हों और कोई वर्ग-विशेष सदियों से गरीब हो, अविकसित हो, उसके लिए

कुछ न सोचा जाए तो आजादी का लाभ ही क्या है?

कमजोर वर्ग पर दया करके उसके लिए कुछ करने के विचारों से हमारी सहमति नहीं है। मानवीय सृष्टि अथवा भ्रातृभाव से किसी को सहयोग दिया जाता है, ऊपर उठाया जाता है, यह एक रास्ता है। सही रास्ता तो यह है कि उस वर्ग को शक्ति-सम्पन्न बनाया जाए। वह अपनी क्षमता से विकास करे और आगे आए। उसमें निमित्त कोई भी बन सकता है।

पाली के बारे में एक बात प्रसिद्ध है कि वहां समाज का कोई भी नया व्यक्ति आकर रहता, उसे सबके बराबर बना लिया जाता। यह साधर्मिक वात्सल्य का एक उदाहरण है। उसकी प्रक्रिया के बारे में यह कहा जाता है कि वहां बसने वाले लोग नवागन्तुक व्यक्ति को एक-एक ईंट और एक-एक रुपया प्रदान करते। भाईचारे की भावना से दिया गया सहयोग आने वाले के लिए अच्छा सहारा बन जाता।

भारत में रहने वाले सब लोग आपस में भाई हैं—इस भावना का विकास हो और इसी के आधार पर हर एक को उठाने की भावना हो तो आरक्षण की नीति को गलत नहीं माना जा सकता। किन्तु जहां आरक्षण के नाम पर व्यक्ति अपने लिए कुर्सी या वोटों को आरक्षित करने के लिए कोई काम करता हो, उसके औचित्य पर प्रश्न-चिन्ह लगे बिना नहीं रह सकता।

जिज्ञासा—भारतीय अर्थनीति उतार-चढ़ाव के कई दौरों से गुजर रही है। भारत में गहराते आर्थिक संकट को कम करने के लिए आम आदमी क्या कर सकता है?

समाधान—इस प्रश्न पर दो दृष्टियों से विचार करना होगा। एक दृष्टि है—इच्छाओं को बढ़ाओ, आवश्यकताओं को बढ़ाओ और उत्पादन बढ़ाओ। यह विकास का रास्ता है।

दूसरी दृष्टि है—इच्छाओं का अल्पीकरण करो, आवश्यकताएं घटाओ और आरम्भ का अल्पीकरण करो। यह शान्ति का रास्ता है।

पहला रास्ता विकास का हो सकता है, पर उसके साथ तनाव और अशान्ति की उपस्थिति बराबर बनी रहती है। दूसरे रास्ते से उतना विकास भले ही न हो, पर मनुष्य तनावमुक्त रहकर सुख और शान्ति के साथ जी सकता है।

१५४ : दीये से दीया जले

‘मुश्किल एक ही है कि प्रतिस्पर्धाओं के इस युग में आदमी पीछे रहना नहीं चाहता या रह नहीं सकता। फिर भी कहीं-कहीं तो ब्रेक लगाना ही होगा। मनुष्य अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को सन्तुलित नहीं करेगा तो शान्ति से जी नहीं सकेगा।

जिज्ञासा—दैनिक पत्रों के मुख पृष्ठ अपहरण, हत्या, आगजनी, दुर्घटना आदि संवादों से पटे रहते हैं। व्यक्ति के भावनात्मक स्वास्थ्य का योगक्षेम करने के लिए क्या इस शैली में बदलाव जरूरी नहीं है?

समाधान—भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए और भी अनेक बातें आवश्यक हैं, पर उनकी ओर ध्यान कौन देता है? मानव के ही नहीं, मानवीय संस्कृति के योगक्षेम का दायित्व भी ‘मीडिया’ पर है। किन्तु लगता है कि इस विषय में कोई नीति निर्धारित नहीं है। समाचार पत्र हो, रेडियो हो या दूरदर्शन हो, इनसे सम्बन्धित व्यक्ति गम्भीर चिन्तन के साथ राष्ट्र-निर्माण-मूलक संवादों को प्राथमिकता दे तो यह समस्या सुलझ सकती है।

मीडिया का काम है पाठक, श्रोता या दर्शक को वस्तुस्थिति का ज्ञान कराना। पर पत्रकार क्या करेंगे, जब पाठक अपहरण, हत्या, दुर्घटना आदि संवादों में ही रस लेते हों। पाठकों की रुचि परिष्कृत हो, वे जीवन-मूल्यों से सम्बन्धित संवादों में विशेष रुचि लें तो पत्रकारों को अपनी शैली बदलनी ही पड़ेगी। अन्यथा जो प्रवाह चल रहा है, वह इतना तीव्रगामी है कि छोटे प्रयास से उसमें बदलाव की संभावना नहीं की जा सकती।

जिज्ञासा—श्रमिक-वर्ग हिंसात्मक उपद्रवों और तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियों में भाग लेता है, इसके पीछे कौन-सी प्रेरणा काम करती है?

समाधान—वर्तमान औद्योगिक युग में श्रमिक-वर्ग बहुत बड़ा वर्ग है। वह वर्ग दूसरे वर्गों की अपेक्षा अधिक सक्षम और स्वावलम्बी है। उसके स्वावलम्बन का आधार है उसका अपना पुरुषार्थ। जो व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं करते, वे प्रमाद और हीनभावना से आक्रान्त रहते हैं। धनिक वर्ग प्रमादी होता है तथा भिखारी हीनता का अनुभव करते हैं। श्रमिक स्वावलम्बी होते हैं, अतः वे उक्त दोनों प्रकार की बुराइयों से मुक्त रहते हैं। सामाजिक जीवन-पद्धति में यह पद्धति सबसे अधिक निर्दोष हो सकती है। फिर भी समाज एक संक्रमणशील संस्था है। उसमें ऐसी लोह दीवार नहीं है, जिससे

एक-दूसरे के विचारों का संक्रमण न हो। इस संक्रमणशीलता से श्रमिक-वर्ग की निष्ठा और प्रामाणिकता प्रभावित होती है। वह प्रभाव दो प्रकार से होता है—अनुसरणशीलता से और विद्रोह की भावना से। श्रमिक-वर्ग में दूसरे वर्गों के विचारों का प्रभाव संक्रान्त होता है, फलस्वरूप कुछ बुराइयां सक्रिय हो जाती हैं। सामाजिक कुरीतियों का जहां तक प्रश्न है, उनका संक्रमण अनुकरणशीलता से होता है। अप्रामाणिकता की वृत्ति चारित्रिक दुर्बलता से प्रोत्साहित होती है और अपने श्रम के शोषण-जनित विद्रोह से भी। उस समय उनके मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि वे श्रम अधिक करते हैं पर उसका फल कम प्राप्त होता है। श्रम नहीं करने वाले अमीरी भोग रहे हैं और श्रमिकों को अभावों से गुजरना होता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से श्रम-निष्ठा में कमी आती है। निष्ठा के अभाव में पनपती हुई अप्रामाणिकता के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता। इस दृष्टि से श्रमिकों की प्रामाणिकता उनकी अपनी चरित्रनिष्ठा और सामाजिक संक्रमण, दोनों पर निर्भर है।

जिज्ञासा—श्रमिक-वर्ग की प्रामाणिकता का दायित्व क्या समाज के साथ भी कोई अनुबंध रखता है?

समाधान—श्रमिकों के मन का असंतोष, उनकी कठिन परिस्थितियां और अनुचित प्रोत्साहन उन्हें हिंसा की प्रेरणा देते हैं। इसका मूलभूत कारण है तामसिक वृत्तियां। वृत्तियां सात्विक हों तो कोई भी परिस्थिति व्यक्ति को बुराई के मार्ग पर नहीं ले जा सकती। तामसिक वृत्तियों से मन का असंतोष प्रबल होता है। आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयां मन को असंतुलित बनाती हैं। असंतोष और असंतुलन की स्थिति में व्यक्ति अपने करणीय और अकरणीय का विवेक नहीं कर सकता। जिस समय व्यक्ति आर्थिक अभावों से आक्रांत होता है, वह हर सम्भव उपाय से उस स्थिति को निरस्त करना चाहता है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो अर्थ की अपेक्षा चरित्र को अधिक मूल्य देते हैं। किन्तु ऐसे निष्ठावान् व्यक्ति कम मिलते हैं। सामान्यतः व्यक्ति अपनी दुर्बलता से जूझना नहीं चाहता। उसे समाहित करने का प्रयत्न करता है। अर्थ मानव-समाज की एक बड़ी दुर्बलता है। इसके लिए श्रमिक-वर्ग को थोड़ा-सा उकसा दिया जाए, उसे कुछ सुविधाओं और अर्थ-प्राप्ति का प्रलोभन मिल जाए तो वह सब कुछ करने के लिए तैयार हो

जाता है। कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए अभावग्रस्त व्यक्तियों का दुरुपयोग करते हैं और उन्हें हिंसा की आग में धकेल देते हैं।

जिज्ञासा—श्रमिक अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक कैसे रहे? इसके लिए आपका क्या निर्देश है?

समाधान—वृत्तियां तीन प्रकार की होती हैं—सात्विक, राजसिक और तामसिक। इनका सम्बन्ध सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से है। इनकी उत्पत्ति भोजन, वातावरण और स्वभाव—इन सब पर निर्भर करती है। जिस व्यक्ति को उत्तेजित खाद्य पदार्थ और उत्तेजक वातावरण उपलब्ध होता है, उसके स्वभाव में मादकता आती है, उग्रता आती है और वह अपनी कोमलता खो देता है। श्रमिक-वर्ग मद्यपान और धूम्रपान जैसी गलत आदतों का निर्माण कर अपनी वृत्तियों में तामसिकता आने का द्वार खोलता है।

आज एक धारणा संक्रान्त हो रही है कि श्रमिक-वर्ग को मनोरंजन के लिए या चिन्ताओं से मुक्त रहने के लिए मादक द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। यह धारणा कल्याणकर नहीं है। जो व्यक्ति ऐसा तर्क प्रस्तुत करते हैं या इसके आधार पर मादक पदार्थों का सेवन करते हैं, वे श्रमिक-वर्ग का हित नहीं करते। मनोरंजन के साधनों की अपेक्षा हर व्यक्ति को हो सकती है। चिन्ता-मुक्ति के लिए प्रयत्न करना भी आवश्यक है। किन्तु वे प्रत्यन्त ऐसे हों जिनका आर्थिक और चारित्रिक दृष्टि से दुष्प्रभाव न हो।

सरस, सुन्दर और ललित वस्तु के दर्शन, उपयोग आदि से कार्यजा क्षमता बढ़ती है। नीरस वातावरण में क्षमता क्षीण होती है। यह एक मनो-वैज्ञानिक सिद्धान्त है। हम इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, पर हम इस बात को भी मानते हैं कि सरसता, सौन्दर्य और लालित्य वहीं हो सकते हैं, जहां असरसता, असौन्दर्य और कठोरता निष्पन्न न हो। मादक पदार्थों के सेवन से होने वाली क्षणिक सुखानुभूति या विश्रामानुभूति परिणामकाल में जीवन को ऊबड़-खाबड़ बना देती है, इसलिए उसकी उपयोगिता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मादक पदार्थ जीवन के लिए अहितकर हैं। भारतीय परंपरा में मनोरंजन और चित्त की प्रसन्नता या निश्चिन्तता के जो सात्विक साधन थे, उन्हें भुला दिया गया। सात्विकता की विस्मृति ने तामसिक साधनों को महत्त्व देने की मनोवृत्ति का निर्माण किया और वृत्तियों में तामसिकता

को स्थान मिल गया।

जिज्ञासा—तामसिक वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आपका क्या अभिमत है?

समाधान—प्राचीनकाल में मनोरंजन और चिन्ता-मुक्ति के सबसे बड़े साधन थे भक्ति और समर्पण। भक्ति-रस में आकंठ निमग्न व्यक्ति इतना तन्मय होता है कि सारी समस्याओं की विस्मृति हो जाती है। समर्पण के दो रूप हैं—अपने उपास्य के प्रति और प्रकृति के प्रति। जो व्यक्ति समर्पित होना जानता है, वह चिन्ताओं के भार से आक्रान्त नहीं होता, स्वयं को बोझिल नहीं बनाता।

मद्यपान के द्वारा भी एक बार चिन्ताओं की विस्मृति होती है, पर उसके साथ वास्तविकता की भी विस्मृति हो जाती है और व्यक्ति गलत कार्य में प्रवृत्त होता है। भक्ति और समर्पण में वास्तविकता सामने रहती है। जिस व्यक्ति का चिंतन सार्वभौम सत्य की धाराओं पर केन्द्रित रहता है, उसका समर्पण ही उसे आनन्दानुभूति दे सकता है।

वर्तमान में जो व्यक्ति आदिवासी मनुष्य जैसा जीवन जीता है, जो सामाजिक सम्पर्क में नहीं आया है, वह भक्ति और समर्पण से अपने जीवन को आनन्द से आप्लावित रखता है। किन्तु वही व्यक्ति जब समाज के संपर्क में आता है, अपनी वृत्तियों को रूढ़ि और अन्धविश्वास के साथ जोड़ता है, सात्विकता के प्रति उसकी आस्था कम हो जाती है। सात्विकता का हास और चिन्ताओं का विकास उसे मादक पदार्थों के निकट ले जाता है, फलतः तामसिकता बढ़ने लगती है। तामसिकता की वृद्धि से हिंसा, तोड़-फोड़, प्रमाद, कर्त्तव्य-पालन में आलस्य आदि दुष्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। अतः श्रमिक-वर्ग के लिए व्यसनमुक्ति अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है।

जिज्ञासा—उन सात्विक साधनों की चर्चा आप करें, जो भारतीय परम्परा में स्वीकृत थे।

समाधान—श्रमिक का सही रूप है उसकी निष्ठा और जागरूकता। जिस व्यक्ति की कर्त्तव्य-पालन में निष्ठा है, वह प्रमाद, अन्याय या मुफ्तखोरी जैसा कोई काम नहीं कर सकता। कर्त्तव्य-भावना की कमी का एक कारण राष्ट्रीय प्रेम की न्यूनता भी है। अपने राष्ट्र के प्रति उदात्त प्रेम होगा तो

१५८ : दीये से दीया जले

प्रमाद जैसी स्थिति को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। परिवार और अपने चरित्र-बल के लिए भी व्यक्ति के कुछ कर्त्तव्य होते हैं। श्रमिक अणुव्रत के नियम कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहने के लिए ही हैं। जिस श्रमिक का जीवन संस्कारी होता है, जिसमें किसी प्रकार का दुर्व्यसन नहीं होता, जो जुआ नहीं खेलता, बाल-विवाह, मृत्युभोज जैसी सामाजिक कुरीतियों को प्रश्रय नहीं देता, अपने अर्जित अर्थ का सुरा, सिनेमा, सिगरेट आदि आदतों की पूर्ति के लिए अपव्यय नहीं करता, श्रम से जी नहीं चुराता और अपने दायित्व के प्रति जागरूक रहता है, वह श्रमिक कभी कर्त्तव्य-च्युत नहीं हो सकता। श्रमिक जीवन एक प्रशस्त जीवन-पद्धति ही नहीं, देश की बहुत बड़ी शक्ति है। श्रमिक अणुव्रत की धाराएं इस शक्ति को चारित्रिक संपदा से परिमंडित कर कर्त्तव्य-पालन की अपूर्व क्षमता दे सकती हैं।

जिज्ञासा—जैन धर्म का विशिष्ट पर्व संवत्सरी भगवान् महावीर की देन है अथवा उससे पूर्व भी यह पर्व मनाया जाता रहा है? प्राचीन काल में उसका स्वरूप क्या था?

समाधान—पर्युषण की परम्परा अर्हत् पार्श्व के समय में भी थी। अन्तर इतना ही है कि भगवान् महावीर के समय में पर्युषण कल्प अनिवार्य हो गया और अर्हत् पार्श्व के समय में वह ऐच्छिक कल्प के रूप में मान्य था। उस समय के साधु आवश्यकता समझते तो पर्युषणा करते। आवश्यकता प्रतीत नहीं होती तो नहीं भी करते।

पर्युषणा का मूल आधार चातुर्मासिक प्रवास है। चातुर्मास में वर्षा होती है। वर्षा के दिनों में हरियाली बढ जाती है। अनेक प्रकार के जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। मार्ग चलने योग्य नहीं रहता। इस स्थिति में मुनि के लिए एक स्थान में रहने की व्यवस्था है। इसके आधार पर ही पर्युषणा की कल्पना की गई। उसके साथ तपस्या, विगय का प्रत्याख्यान, प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय, ध्यान आदि कुछ व्यवस्थाएं योजित की गईं।

अर्हत् पार्श्व के समय पर्युषण की व्यवस्था किस रूप में चलती थी, उसका कोई स्वतंत्र उल्लेख प्राप्त नहीं है। भगवान् महावीर के समय में भी उसका क्या स्वरूप था, कहना कठिन है। छेद सूत्रों में पर्युषण विषयक कुछेक निर्देश मिलते हैं। इनका विशद वर्णन 'पर्युषण कल्प' में उपलब्ध है। वह

महावीर-निर्वाण के बाद की रचना है। इसलिए उसमें उत्तरवर्ती व्यवस्थाएं जुड़ी हुई हैं। सामान्यतः इतना कहा जा सकता है कि पर्युषण का सम्बन्ध चातुर्मास की स्थापना से है। भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन उस दृष्टि से आखिरी दिन है। उसका अतिक्रमण नहीं हो सकता। उस दिन सांवत्सरिक उपवास किया जाता था। विगय वर्जन आदि के संकल्प भी चलते थे। इनका विकास उत्तरकाल में हुआ प्रतीत होता है।

जिज्ञासा—एक ही परम्परा में एक सर्वोत्कृष्ट पर्व भिन्न-भिन्न समय में मनाने की प्रथा कब और क्यों प्रचलित हुई?

समाधान—जैन शासन में दो मुख्य परम्पराएं हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दिगम्बर परम्परा में आगम सूत्रों को अस्वीकार कर दिया गया। फलतः अनेक परम्पराएं छूट गईं। आश्चर्य है कि उस परम्परा में पर्युषण जैसे पर्व का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। दिगम्बर लोग 'दस लक्षण' मनाते हैं। उसका प्रारम्भिक दिन पंचमी है। श्वेताम्बर परम्परा में प्राचीन काल से ही पर्युषण या संवत्सरी के लिए भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन निर्धारित रहा है।

कालकाचार्य ने विशेष परिस्थितिवश भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को संवत्सरी का पर्व मनाया था। इतिहास बताता है कि प्रतिष्ठानपुर का राजा शातवाहन कालकाचार्य के सम्पर्क में आया, उनसे प्रभावित हुआ। कालकाचार्य ने संवत्सरी पर्व का महत्त्व समझाया। शातवाहन ने प्रार्थना की—'गुरुदेव ! मैं संवत्सरी पर्व की आराधना करना चाहता हूं। पर मेरे सामने एक समस्या है। पंचमी के दिन हमारे नगर में इन्द्र महोत्सव का आयोजन है। उसमें मेरी उपस्थिति अनिवार्य है। इस कारण मैं संवत्सरी पर्व की आराधना में भाग नहीं ले सकूंगा। आप इस पर्व को छठ के दिन मना लें तो मैं वहां से निवृत्त होकर यहां पहुंच जाऊंगा।'

कालकाचार्य ने कहा—'यह असंभव है। हमारे आगम पंचमी का दिन अतिक्रान्त करने की अनुमति नहीं देते।' राजा ने निवेदन किया—'संभव हो तो इस पर्व का आयोजन एक दिन पहले चतुर्थी को कर लें।' इस प्रस्ताव को उन्होंने मान्य कर लिया और चतुर्थी को संवत्सरी मना ली। विशेष परिस्थिति में किया गया प्रयोग स्थाई बन गया। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में संवत्सरी मनाने के दो दिन हो गए—पंचमी और चतुर्थी। चतुर्थी को

संवत्सरी मनाने वाले भी स्वीकार करते हैं कि आगम की दृष्टि से पंचमी का दिन ही है। पर कालकाचार्य ने चतुर्थी को संवत्सरी की, इसलिए हम भी उसी को मानते हैं। कालकाचार्य का समय विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी है।

जिज्ञासा—अनेकान्त के उपासक सभी जैनाचार्य तीव्र प्रयत्न के बावजूद सांवत्सरिक एकता के सम्बन्ध में अब तक एक मत क्यों नहीं हो सके? क्या निकट भविष्य में उनके एकमत होने की कोई संभावना है?

समाधान—अनेकान्त दर्शन है, एक सिद्धान्त है। उसका व्यवहार में प्रयोग हो रहा है, ऐसा नहीं माना जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि अधिकांश जैन अनेकान्त को समझते ही नहीं हैं। जो थोड़ा-बहुत जानते हैं, उन पर भी परम्परा और साम्प्रदायिकता की छाया रहती है। जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, अनेकान्तवादियों के सामने बहुत बड़ा प्रश्न है। आज के वैज्ञानिक और बौद्धिक युग में इसे उत्तरित नहीं किया गया तो प्रश्नचिह्न और बड़ा हो जायेगा।

इस सन्दर्भ में हमारे मन में एक कल्पना है। उसके अनुसार जैनशासन के प्रभावशाली आचार्यों, मुनियों, श्रावकों और विद्वानों की एक संगीति आवश्यक है। उसके लिए विलम्ब न हो। निकट समय में उसकी सम्यक् आयोजना हो। हमें इसमें उक्त समस्या का समाधान दिखाई दे रहा है। सब लोग एक साथ बैठकर चिन्तन करें, समीक्षा करें और पर्यालोचन करें तो अवश्य ही एकता का पथ प्रशस्त हो सकता है। केवल 'संवत्सरी' का ही नहीं, और भी अनेक प्रश्नों का समाधान हो सकता है।

संगीति कब हो? कहां हो? और कैसे हो? इसका निर्धारण सम्प्रदायों के कुछ प्रतिनिधि मिलकर करें। हमने इस दिशा में पहल की है। कुछ विद्वानों, साहित्यकारों, पत्रकारों और मुनिवरों से इस विषय में चर्चा भी प्रारम्भ की है। यह चर्चा आगे बढ़े, सामूहिक रूप ले और इसके वांछित परिणाम सामने आएँ, यह आवश्यक है।

जिज्ञासा—क्या जैन मतावलम्बी अपने इस महापर्व की आराधना में पास-पड़ोस के लोगों को सम्मिलित करने का प्रयत्न करते हैं?

समाधान—पर्युषण पर्व जितना महान् है, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक दृष्टि से जितना उपयोगी है, उस अनुपात में उसे मनाने का

व्यापक प्रयत्न कहां होता है? कुछ व्यक्ति थोड़ा-बहुत प्रयत्न करते हैं। पर इसका समुचित मूल्यांकन होता, इसके प्रचार-प्रसार में जैन लोग शक्ति लगाते तो यह एक सार्वजनिक पर्व का रूप ले लेता। एक पर्युषण पर्व का क्या, अन्य किसी विषय में भी अपेक्षित प्रचार-प्रसार कहां होता है ? जैन लोग इस अपेक्षा को समझे नहीं हैं अथवा उनका ध्यान इधर गया नहीं है।

पर्युषण पर्व का आध्यात्मिक मूल्य स्पष्ट है। इसका सामाजिक और पारिवारिक मूल्य भी कम नहीं है। समाज और परिवार में सौहार्द की स्थापना में इसकी मूल्यवान् भूमिका हो सकती है। इस दृष्टि से इसको सौहार्द या मैत्री का पर्व कहा जा सकता है। यदि बड़े पैमाने पर सामाजिक एवं पारिवारिक वातावरण में वार्षिक मैत्री पर्व की समायोजना हो तो भीतर-ही-भीतर घुलती अनेक गांठें खुल सकती हैं। आपसी वैर-विरोध का शमन हो सकता है। अदालत का दरवाजा खटखटाने से छुट्टी हो सकती है। घर की दहलीज के भीतर पांव रख परिवार में जहर घोलने वाली अन्य अनेक समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है।

मैत्री का यह पर्व विश्व के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है ! इसे किसी भी सम्प्रदाय की सीमा में आबद्ध करने का कोई औचित्य नहीं है। यह शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का पर्व है। सौहार्द का पर्व है। सहिष्णुता का पर्व है। जीवन के प्रति जागरूक बनाने वाला पर्व है। सामूहिकता का पर्व है। इसमें सबकी संभागिता हो, यह आवश्यक है।

जिज्ञासा—हजारों वर्षों से चले आ रहे इस महापर्व से भारत वर्ष का लोक जीवन कहां तक प्रभावित हुआ है? क्या इस दिन के उपलक्ष्य में देश भर में अहिंसा दर्शन के सक्रिय प्रशिक्षण की कोई व्यवस्थित रूपरेखा बनाई जा सकती है?

समाधान—इस पर्व का जितना प्रसार हुआ है, उतनी सीमा में जन जीवन प्रभावित भी हुआ है। बहुत प्रसार भी नहीं हुआ, इसलिए व्यापक प्रभाव की बात भी कैसे सोची जा सकती है? विगत कुछ वर्षों से संवत्सरी पर्व के दिन को अहिंसा दिवस के रूप में मनाने की बात चर्चा में है। भारत सरकार के सामने भी यह प्रस्ताव रखा गया कि संवत्सरी पर्व को अहिंसा दिवस के रूप में घोषित किया जाये। किन्तु जब तक सब जैन एक दिन को स्वीकार नहीं

कर लेते, यह बात आगे नहीं बढ़ सकती।

यदि सब जैनों को एक दिन मान्य हो जाए तो अहिंसा दिवस की कल्पना साकार हो सकती है। उसके साथ अहिंसा के प्रशिक्षण की बात भी जोड़ी जा सकती है, ऐसा स्पष्ट आभासित हो रहा है। अहिंसा युग की मांग है। आज की अनेक समस्याओं का समाधान है। अहिंसा दिवस के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा प्रशिक्षण की योजना को बहुत व्यापक रूप दिया जा सकता है। अब भी इस विषय में कोई ठोस काम नहीं हुआ तो समय हाथ से निकल जाएगा। विश्व की संस्कृति के लिए मूल्यवान् हमारा यह महापर्व कब तक सर्व सहमति की प्रतीक्षा करता रहेगा?

जिज्ञासा—भगवान् महावीर के दर्शन में विश्व दर्शन बनने की क्षमता है, यह बात कई लोगों के मुंह से सुनी है। फिर भी ऐसा लगता नहीं कि वह विश्व दर्शन बनने जा रहा है। इस सन्दर्भ में आपका क्या चिन्तन है?

समाधान—जैन दर्शन में विश्व दर्शन बनने की क्षमता है, यह तथ्य निर्विवाद है। ऐसा व्यापक, उदार और वैज्ञानिक दर्शन दुर्लभतम होता है। कुछ बातें व्यापक होती हैं, पर वैज्ञानिक नहीं होतीं। कहीं वैज्ञानिकता होती है, किन्तु व्यापकता नहीं होती। जैन दर्शन में एक साथ सारी बातें मिल जाती हैं। प्रश्न है वह विश्व दर्शन क्यों नहीं बना? क्यों नहीं बन रहा? ऐसी जिज्ञासा अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि जैन धर्म या दर्शन के मंच से ऐसा कुछ भी नहीं हो पाया है। किन्तु जैन दर्शन के मौलिक सिद्धांतों—सापेक्षता, समन्वय, सहअस्तित्व आदि की गूँज पूरे विश्व में है। विश्व के लोग जैन नहीं बने, यह सच्चाई है। फिर भी जहां कहीं सापेक्षता, समन्वय आदि जीवनशैली के साथ जुड़ेंगे, वहां महावीर का दर्शन स्वतः फलित हो जाएगा।

इस सन्दर्भ में जोधुपर रोटरी क्लब का एक प्रसंग उद्धृत करना चाहता हूं। वहां एक प्रबुद्ध व्यक्ति ने प्रश्न पूछा—‘जैन लोगों की संख्या इतनी कम क्यों है?’ मैंने कहा—‘संख्या की दृष्टि से जितने आंकड़े सामने आये हैं, वे सही नहीं हैं। क्योंकि इन आंकड़ों में उन सब लोगों को सम्मिलित किया गया है, जो जैन परिवार में जनमे हैं। जैनों में बहुत लोग ऐसे हो सकते हैं, जिनको न तो जैन सिद्धांतों की जानकारी है और न वे उन सिद्धांतों का पालन करते हैं। ऐसे लोगों को गणना में सम्मिलित न करें तो जैनों की

संख्या और कम हो जाएगी।' किन्तु इसके साथ एक दूसरा दृष्टिकोण भी है—'जो लोग जैन नहीं हैं, फिर भी अहिंसा में आस्था रखते हैं, उन्हें कर्मणा जैन क्यों नहीं माना जाए?'

जिज्ञासा—भगवान् महावीर जातिवाद को अतात्त्विक मानते थे। फिर भी उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म—जैन धर्म आज एक जाति विशेष के कटघरे में आबद्ध क्यों हो गया?

समाधान—भगवान् महावीर ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया, वह उनके अनुयायियों द्वारा इतना धूमिल कर दिया गया कि स्वयं महावीर आकर देखें तो सोचेंगे कि क्या यह वही धर्म है, जो मेरे द्वारा प्रवर्तित है? उनका धर्म आत्मशुद्धि या आत्मशान्ति के लिए था। धर्म के आचरण से जीवन पवित्र बनता था। इस नितान्त शुद्ध धर्म में ऐसे तत्त्वों की घुसपैठ हो गई, जो उसे क्रियाकाण्डों तक ही सीमित रखते हैं। लोकरंजन के लिए या रूढ़ता के सहारे चलने वाला धर्म अपने स्वरूप की सुरक्षा कैसे कर पाएगा? कब थी धर्म में छुआछूत की भावना! कब थी धर्म पर जातिवाद की प्रतिबद्धता! कब था धर्म में द्रव्य पूजा का प्रचलन! कब था धर्म में परिग्रह का प्रचलन! कब था धर्म में परिग्रह का प्रवेश! स्वयं भगवान् महावीर को कितने आडम्बर और परिग्रह से जोड़ दिया गया है।

मेरा यह स्पष्ट अभिमत है कि भगवान् महावीर का धर्म जातिवाद, वर्गवाद और वर्णवाद के शिकंजों में कभी बन्दी नहीं हो सकता। इस अवधारणा के आधार पर ही आचार्य भिक्षु ने सार्वभौम धर्म की घोषणा की। उनकी घोषणा के आधार पर ही हमने अणुव्रत और कर्मणा जैन का अभिक्रम प्रारंभ किया। इस अभिक्रम के माध्यम से अन्य जाति के लोग जैन धर्म से जुड़कर अपने जीवन को नई दिशा देने के लिए कृतसंकल्प हो रहे हैं। कुछ और आचार्यों ने भी इस दृष्टि से काम किया है। अब हमारे सामने समय भी अनुकूल है। सभी जैन सम्प्रदायों के चिन्तनशील लोग पुरुषार्थ करें तो जैन धर्म को बहुत व्यापक बनाया जा सकता है।

जिज्ञासा—महावीर ने जिस भूमि पर अहिंसा की अमृत वृष्टि की, उस भूमि पर हिंसा का खुला रूप देखकर कुछ लोग पूछ रहे हैं कि वहां महावीर की अहिंसा का वर्चस्व क्यों नहीं है? साम्प्रदायिक उन्माद या उग्रवाद के रूप

में पनप रही हिंसा को निरस्त करने का कोई सरल उपाय है क्या ?

समाधान—जिस भूमि में महापुरुष या वीतराग पुरुष उत्पन्न हुए, वह भूमि वीतरागभूमि बन जाए, यह जरूरी नहीं है। जहां महावीर ने अहिंसा का उपदेश दिया, वहां कभी हिंसा के बादल मंडराएं ही नहीं, यह अति कल्पना है। समस्याएं हर युग में होती हैं। किसी भी समस्या का समाधान उस क्षेत्र के अतीत में झांकने मात्र से नहीं हो सकता। आज युगीन सन्दर्भों में सही पुरुषार्थ की अपेक्षा है।

बिहार भगवान् महावीर की जन्मभूमि और कर्मभूमि रहा है। वहां व्यापक दृष्टि से काम किया जाए तो परिस्थितियों में बदलाव संभव है। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान के माध्यम से कुछ क्षेत्रों में रचनात्मक काम शुरू हुआ है। वहां हिंसा की समस्या लोक जीवन से भी अधिक राजनीति से प्रेरित है। व्यवस्थित और सही दिशा-दर्शन की अपेक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हिंसा में उलझने वाले लोगों का चिन्तन सकारात्मक हो जाए तो वहां पुनः महावीर की अहिंसा को प्रतिष्ठापित किया जा सकता है। इसका सबसे सरल उपाय है पूर्वाग्रह मुक्त होकर पारस्परिक संवाद की स्थापना।

जिज्ञासा—क्या जैन विश्वभारती के माध्यम से जैन धर्म की वैज्ञानिकता को जगजाहिर करने की कोई योजना बनी है ?

समाधान—जैन विश्वभारती की गतिविधियों से यह आशा बंधी है कि जैन धर्म को जगजाहिर करने में इस संस्थान की अच्छी भूमिका रह सकती है। जैन विश्वभारती में इस दृष्टि से मुख्यतः दो काम हो रहे हैं। पहला काम है—जैन विश्वभारती, मान्य विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी का अध्ययन और रिसर्च। दूसरा काम है अहिंसा प्रशिक्षण की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन। सेमिनार में जिन लोगों की संभागिता थी, उनमें अनेक व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न थे। उन लोगों का चिन्तन रहा कि अहिंसा के सिद्धांत को व्यावहारिक बनाने के लिए कोई ऐसी प्रक्रिया अपनाई जाए, जो जन-जीवन को नया मोड़ दे। इसके लिए कुछ क्षेत्रों को सघन क्षेत्र बनाकर काम करने की अपेक्षा है।

जिज्ञासा—तत्कालीन परिस्थिति में नारी को समानता का अधिकार देकर

भगवान् महावीर ने एक क्रान्ति की। क्या वर्तमान में उस क्रान्ति की मशाल को अधिक प्रदीप्त करने की अपेक्षा है?

समाधान—समानता का दर्जा या अधिकार की बात के साथ मेरी सहमति नहीं है। मैं कहता हूँ कि नारी को अपना अधिकार मिले। अपनी स्वतंत्रता मिले। भगवान् महावीर ने यही काम किया था। जहां बराबरी का प्रश्न आता है, वहां टकराव की स्थिति बनती है। नारी और पुरुष—दोनों ही अपनी सीमाओं को समझें और अपने अधिकारों का उपयोग करें।

वर्तमान परिस्थितियों में महिला जागरण का दावा किया जा रहा है, पर मुझे ऐसा अनुभव होता है कि अभी सर्वांगीण जागरण की दिशाएं उन्मुक्त नहीं हुई हैं। उनके लिए महिलाओं को अपनी पहचान बनानी होगी। वे अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक रहें, प्रवाहपाती न बनें, दायित्व को समझें और विवेक के साथ आगे बढ़ें। पुरुष स्वयं उनका सहयोग करेंगे। अभी तक अस्तित्व-बोध वाली महिलाएं कम हैं, दायित्व-बोध वाली तो और भी कम हैं। जब तक महिलाएं स्वयं नहीं जागेंगी, उनका सहयोग कौन करेगा? युग के साथ जो कुछ होता है, होता रहेगा। गंभीर चिन्तन के साथ करणीय कामों को प्राथमिकता दी जाए तो महिलाओं की शक्ति और अधिकार को अधिक सार्थक बनाया जा सकता है।

जिज्ञासा—जैनधर्म में जन धर्म या विश्व धर्म बनने की क्षमता है, ऐसा आपने बताया। वह कौन-सा अभिक्रम है, जिसके द्वारा यह कथन क्रियात्मक रूप ले सकता है?

समाधान—जैन धर्म में जनधर्म बनने के पर्याप्त तत्त्व हैं। यहां कुछ तत्त्वों का उल्लेख किया जा रहा है—

१. जैन धर्म मानवतावादी है। जाति और रंग के आधार पर मनुष्य को विभक्त नहीं करता। एक्का मणुस्सजाई—मनुष्य जाति एक है। इस सिद्धांत में उसका विश्वास है।

२. जैन धर्म ने धर्म के सार्वभौम सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। अपने सम्प्रदाय से बाहर जो हैं, उनके लिए भी मोक्ष अथवा परमात्मा बनने का दरवाजा बन्द नहीं किया।

१६६ : दीये से दीया जले

३. जन धर्म अनेकान्तवादी हैं। उसने प्रत्येक धर्म और व्यक्ति के विचारों में सत्य को खोजने की दृष्टि दी है।

४. जैनधर्म समन्वयवादी है। उसने विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों में सापेक्ष दृष्टि से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसका फलित है—विरोधी विचारों, सामाजिक और राजनीतिक प्रणालियों में सहअस्तित्व।

५. जैनधर्म ने विश्व-मैत्री और विश्व-शांति के लिए अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त का विकास किया। उसमें स्वस्थ समाज के निर्माण की क्षमता है।

जातिवाद, साम्प्रदायिक अभिनिवेश, मिथ्याग्रह, निरपेक्ष दृष्टि और सहअस्तित्व विरोधी अवधारणा—ये धर्म को संकुचित बनाते हैं। जैनधर्म इन अवधारणाओं से परे रहा है। उसमें विश्व धर्म बनने की क्षमता है। किन्तु उसका सम्यक् प्रचार नहीं हो सका, उसके सिद्धान्त जन-जन तक नहीं पहुंचाए जा सके, इसलिए वह विश्वव्यापी अथवा विश्व धर्म नहीं बन सका। यदि जैन धर्म के सिद्धान्त सही रूप में जनता तक पहुंच सकें तो उनकी व्यापकता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

जिज्ञासा—एक समय में जैन धर्म का प्रभुत्व जनसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक था। आज वह एक वर्ग-विशेष में ही सिमटकर क्यों रह गया है?

समाधान—धर्म के प्रणेता और नेता जितने प्रभावशाली होते हैं, धर्म का प्रभाव उतना ही अधिक बढ़ता है। उनके साथ कुछ तान्त्रिक और मान्त्रिक शक्तियों का भी महत्त्व होता है। प्राचीन काल में कुछ प्रभावशाली आचार्यों ने चामत्कारिक शक्तियों का उपयोग कर राजाओं पर प्रभाव छोड़ा। एक राजा जैन बना तो उसके साथ लाखों लोग अनायास ही जैन बन गए। राजाओं का युग समाप्त हुआ। नेतृत्व का प्रभाव क्षीण हुआ। वैसी स्थिति में किसी व्यक्ति विशेष के नाम से धार्मिकता का प्रवाह बनने की प्रक्रिया में अवरोध आ गया।

उस समय जैन लोगों के पास, विशेष रूप से दाक्षिणात्य जैनों के पास

सेवा के कार्यक्रम थे। वे अपने-अपने गांवों-कस्बों में सबके लिए भोजन की व्यवस्था रखते थे। औषधियां सुलभ करवाते थे। शिक्षा की सुविधा देते थे, और जैन धर्म स्वीकार करने वालों को सब तरह से अभय बना देते थे। इन चारों कार्यक्रमों का व्यापक प्रभाव था। इस कारण जनता सहज ही जैन धर्म से आकृष्ट हो जाती थी। किसी भी धर्म के सिद्धान्त कितने ही ऊंचे क्यों न हों, जन सेवा के अभाव में वे ग्राह्य नहीं बनते। जब तक देश में जैन लोगों का वर्चस्व स्थापित नहीं होगा और उनके द्वारा जन सेवा के प्रभावी कार्यक्रम नहीं किए जाएंगे, जैनधर्म के आम आदमी तक पहुंचने में कठिनाइयां रहेंगी।

जातिवाद, छुआछूत, साम्प्रदायिकता आदि संकीर्णताएं जैनधर्म में नहीं थीं। युग के प्रवाह में बहकर जैन लोगों ने अपने परिवेश में इनको पनपने का अवसर दिया। जैन धर्म के वर्ग विशेष में सिमटने का यह भी एक प्रमुख कारण है।

जिज्ञासा—ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों के अनुयायी एक न्यूनतम आचार-संहिता का पालन करते हैं। क्या जैनों की भी ऐसी कोई आचार-संहिता है? नहीं तो आपकी दृष्टि में उसका क्या प्रारूप हो सकता है?

समाधान—सामान्यतः प्रत्येक धर्म की आचार-संहिता होती है। जिस धर्म के अनुयायी परम्परागत आचार-संहिता से पूरे प्रतिबद्ध रहते हैं, वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे संक्रांत होकर जीवंत रह जाती है। जिस धर्म के अनुयायी उसके प्रति उपेक्षा रखते हैं, वह आचार-संहिता धीरे-धीरे लुप्त होने लगती है। जैन-धर्म की भी अपनी न्यूनतम आचार-संहिता है। उसके प्रति प्रतिबद्धता का भाव कम होने से आज जैन लोगों की धार्मिक चर्या में एकरूपता नहीं रह पाई है। सलक्ष्य प्रयत्न किया जाए तो उसका एक रूप स्थिर हो सकता है। युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसका संभावित प्रारूप यह हो सकता है—

- दिन में कम-से-कम तीन बार नमुक्कार महामंत्र की पांच-पांच आवृत्ति।
- सांवत्सरिक महापर्व की एकता। उस दिन पूरा उपवास, सब प्रकार के कारोबार बन्द और सांवत्सरिक 'खमतखामणा' का प्रयोग।

१६८ : दीये से दीया जले

- महावीर जयन्ती (भगवान् महावीर का जन्म दिन), दीपावली (भगवान् महावीर का निर्वाण दिन), अक्षय तृतीया (भगवान् ऋषभ की तपस्या के पारणा का दिन) आदि जैन पर्वों को एक निश्चित और व्यवस्थित पद्धति से मनाना ।
- खान-पान की शुद्धि—जैन शाकाहारी होता है । उसके लिए मद्य-मांस का सेवन निषिद्ध रहे ।
- व्यसन-मुक्त जीवन जीना ।
- निरपराध प्राणी की हत्या, आत्महत्या और भ्रूण-हत्या नहीं करना ।
- क्रूर हिंसा-जनित किसी भी वस्तु का उपयोग नहीं करना ।
- जातिवाद, छुआछूत जैसी अमानवीय प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं देना ।

जिज्ञासा—आमतौर पर कहा जाता है कि जैन धर्म के अनुसार शरीर को कष्ट देना धर्म है । यह वास्तविकता है या इस सम्बन्ध में आपकी अवधारणा भिन्न है ?

समाधान—शरीर को कष्ट देना धर्म है, यह धारणा सही नहीं है । जैनधर्म में अज्ञान-कष्ट को कभी स्वीकृति नहीं मिली । साधना करते समय किसी प्रकार का कष्ट उपस्थित हो, उसे समभाव के साथ सहन करने का विधान है । धार्मिक व्यक्ति धर्म की आराधना करने के लिए कोई-न-कोई व्रत स्वीकार करता है । वह उपवास करे, रात्रिभोजन का परिहार करे, रात्रि में पानी पीने का परित्याग करे या अन्य कोई संकल्प ले, उसकी परिपालना में कष्ट की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । पर वह कष्ट शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं झेला जाता । मुख्य उद्देश्य है साधना । साधना काल में कष्ट आए, उन्हें सहन नहीं करना, लक्ष्य से विमुख होना है ।

जिज्ञासा—शताब्दी बीत जाने के बाद जयाचार्य द्वारा रचित 'चौबीसी' (तीर्थंकर स्तवना) को सार्वजनीन व्यापकता देने की बात आपके मानस में क्यों उभरी ?

समाधान—चौबीसी तेरापंथ समाज में काफी व्यापक रही है । मैंने अपने युग में इसको जन-जन के मुंह पर थिरकते हुए देखा हैं । इसकी सहज-सरल रचनाशैली, भक्तिप्रवणता, रागों की रोचकता, शब्द संरचना का सौष्ठव,

तात्त्विक विवेचन आदि बातों ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। मैं जब-जब इसका संगान करता हूँ, आत्मविभोर हो जाता हूँ। व्याख्यान में चौबीसी के गीत गाता हूँ तो श्रोता तन्मय हो जाते हैं। मैंने ऐसा अनुभव किया कि चौबीसी के गंभीर अध्ययन और स्वाध्याय से अनेक लोग बहुश्रुत बन सकते हैं। इसी उद्देश्य से चौबीसी को सार्वजनीन व्यापकता देने का चिन्तन किया। 'सार्द्ध शताब्दी' एक निमित्त बनी। इससे ध्यान केन्द्रित हो गया।

जिज्ञासा—तीर्थकरों की स्तवना का उद्देश्य व्यक्ति को वीतरागता तक पहुंचाना है। पर इस संदर्भ में स्तुतिपरक साहित्य को देखकर लगता है कि उनके अनुयायियों ने वीतरागता से अधिक दैविक वैभव, चमत्कार एवं भौतिक बाह्याडम्बरों को अधिक मूल्यवत्ता दी है। जयाचार्य कृत 'चौबीसी' भी इससे अछूती नहीं रही है। इस संदर्भ में आपका क्या चिन्तन है?

समाधान—वीतरागता जैन-धर्म का आदर्श है। वीतराग-वन्दना या स्तवना का मूल उद्देश्य वीतरागता की दिशा में अग्रसर होना ही है। भावक्रिया के साथ वीतराग शब्द के अर्थ का अनुचिन्तन भी वीतराग बनने का एक उपाय है। वीतराग के स्तुतिपरक साहित्य में दिव्य वैभव, चमत्कार आदि की बात के पीछे दो दृष्टियां हो सकती हैं— वस्तुस्थिति का प्रकाशन करना और वीतराग के प्रति आम आदमी में आकर्षण जगाना। वीतराग दिव्य और योगज अतिशयों से सम्पन्न होते हैं। सब लोग उन अतिशयों को नहीं जानते। उनकी बोधयात्रा विशद बनाने के लिए वीतराग-चरित्र की विलक्षण बातें बताई जाती हैं।

मनुष्य भोजन क्यों करता है? भूख मिटाने के लिए। खाद्य पदार्थ कैसा ही हो, भूख मिट जाएगी। फिर भी उसे चेष्टापूर्वक सरस बनाया जाता है। सरस और सुरुचिपूर्ण भोजन के प्रति सहज आकर्षण रहता है। इसी प्रकार वीतराग की स्तुति किसी रूप में की जाए, वह कर्म निर्जरा का हेतु बनेगी। उसके प्रति आम आदमी को आकृष्ट करने के लिए दिव्यता के प्रसंग जोड़े जाते हैं तो रचना में सरसता ही आएगी।

कोरा अध्यात्म रूखा होता है। उसे सरस बनाने के लिए भौतिक ऋद्धियों की चर्चा चिन्तनपूर्वक की गई है, ऐसा प्रतीत होता है। सत्यं शिवं सुन्दरं—ये तीन तत्त्व हैं। सत्य की खोज मनुष्य का लक्ष्य है। शिव कल्याणकारी होता

१७० : दीये से दीया जले

है। इनके साथ सौन्दर्य की बात जितनी उपयोगी है, उतनी ही उपयोगिता वीतरागता के साथ दैविक सम्पदा की हो सकती है।

जिज्ञासा—श्रीमद् जयाचार्य जैन परम्परा के वर्चस्वी आचार्य थे। वीतरागता और आत्मकर्तृत्व के प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी। फिर भी अपनी रचना 'चौबीसी' में उन्होंने स्थान-स्थान पर शरणागति को अभिव्यक्ति दी है। साधना के क्षेत्र में आत्म-कर्तृत्व एवं शरणागति—दोनों का समन्वय कैसे किया जाये?

समाधान—आत्म-कर्तृत्व और शरणागति में विरोध कहां है? जैन परम्परा में अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म—इस चतुर्विध शरण का महत्त्व है। इसमें शरणागत को क्या मिलता है? लेना-देना कुछ है ही नहीं। यह तो आन्तरिक समर्पण और श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। आराध्य और आराधक का अद्वैत है। आराध्य के प्रति समर्पण है, सौदा नहीं। सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु, आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु आदि वाक्यों का मंत्राक्षर के रूप में स्मरण किया जाता है। यह प्रक्रिया आत्म-कर्तृत्व में कहां बाधक बनती है? समर्पण के अभाव में होने वाला कर्तृत्व अहंकार पैदा कर सकता है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ, फिर मैं किसी की शरण क्यों स्वीकार करूँ? यह चिन्तन अभिमान का सूचक है। इससे जुड़ा हुआ कर्तृत्व जीवन को संवारता नहीं, व्यक्ति को दिग्भ्रान्त बनाता है।

जिज्ञासा—जयाचार्य के शासनकाल में नारी को संघीय दृष्टि से बहुमान देने की परम्परा विकसित होते हुए भी उनकी 'चौबीसी' में नारी के लिए राखसणी, वैतरणी, पुतली अशुचि दुर्गन्ध की, जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। साधना की भूमिका पर ऐसे शब्दों के प्रयोगों के पीछे जयाचार्य का क्या अभिप्राय रहा होगा?

समाधान—चौबीसी में नारी के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग है, वह प्रतीकात्मक शैली का नमूना है। मेरे अभिमत से वहां वासना को नारी में रूपायित किया गया है।

इसका दूसरा कारण हो सकता है पुरुषों के लिए एक सुरक्षा कवच का निर्माण। पुरुष महिला के प्रति आकृष्ट होता है, यह उसकी दुर्बलता है। यह दुर्बलता मिटे, उसके मन में आकर्षण न जागे, इस उद्देश्य से महिला को

भयानक या बीभत्स रूप में चित्रित किया गया है।

तीसरा कारण हो सकता है युग का प्रवाह। उस युग में ऐसे शब्दों या प्रतीकों का प्रयोग मान्य रहा होगा। वर्तमान परिवेश में कोई कवि ऐसे प्रयोग करे तो वह विवादास्पद बन सकता है।

जिज्ञासा—जयाचार्य ने 'चौबीसी' में गुणोत्कीर्तन को प्रधानता दी है। क्या आप अनुभव करते हैं कि तत्कालीन प्रचलित परम्पराओं के विभिन्न भक्तिमार्गों का सीधा प्रभाव उन पर पड़ा है?

समाधान—गुणोत्कीर्तना प्रमोदभावना है। साधना के क्षेत्र में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ—ये चार भावनाएं बहुत उपयोगी हैं। गुणी व्यक्ति के गुणगान करने से निर्जरा होती है। भावों की प्रबलता में तीर्थंकर गोत्र का बंधन भी संभव है। तत्कालीन परम्पराओं या भक्तिमार्गों के प्रभाव को सर्वथा अस्वीकार क्यों करें? पर संभावना यही लगती है कि जयाचार्य की इस क्षेत्र में रुचि थी। गुणोत्कीर्तना की विधा उनके द्वारा सहज स्वीकृत थी।

जिज्ञासा—'विघ्न मिटै समरण कियां'—जयाचार्य की आस्था का सूत्र है। सार्ध शताब्दी तक इस आस्था से धर्मसंघ जुड़ा हुआ है। जिज्ञासा है कि समय की लम्बी दीर्घा में क्या धर्मसंघ के इतिहास में चौबीसी स्तवना द्वारा दैविक उपसर्ग, रोग एवं विघ्न-बाधाओं का शमन करने वाली जैसी चामत्कारिक घटनाओं का संग्रहणीय एवं उल्लेखनीय प्रेरक संकलन हमारे पास है?

समाधान—कष्ट की स्थिति में इष्ट का स्मरण कष्ट का निवारण करता है और मनोबल पुष्ट करता है। 'विघ्न मिटै समरण कियां'—जयाचार्य का यह आस्था सूत्र आज लाखों लोगों का आस्थासूत्र बन चुका है। इस आस्था-सूत्र से उनको त्राण भी मिल रहा है। घटनाओं के संकलन का जहां तक प्रश्न है, यह तो रोजाना की बात है। कितने घटना-प्रसंग संकलित किए जाएंगे। सैकड़ों घटनाएं संकलित हैं भी। इस वैज्ञानिक युग में कुछ लोग ऐसी घटनाओं को अन्धविश्वास कहकर अस्वीकार कर रहे हैं। करें, पर इससे क्या अन्तर आएगा? वैज्ञानिक रिसर्च पदार्थ पर होती है। आत्मा के बारे में अब तक भी विज्ञान मौन है। जो लोग आत्मा एवं परमात्मा को मानते हैं, जिन लोगों की आस्था प्रबल है, वे चौबीसी का स्वाध्याय कर शारीरिक एवं मानसिक संक्लेश से मुक्ति का अनुभव करते हैं। इस अनुभूत सत्य को

१७२ : दीये से दीया जले

अस्वीकार कैसे किया जाएगा?

जिज्ञासा—जयाचार्य की चौबीसी ठेठ राजस्थानी भाषा में रचित है। जो आम आदमी के लिए सहज सुबोध्य नहीं है। आज के सांस्कृतिक एवं भाषायी परिप्रेक्ष्य में क्या आप स्वयं हिन्दी भाषा में चौबीसी की रचना करने की अपेक्षा अनुभव नहीं करते?

समाधान—जहां भावना प्रधान होती है, वहां भाषा गौण हो जाती है। कवित्व या वैदुष्य का सम्बन्ध भाषा से नहीं, सृजनशीलता से है। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण किस भाषा में है? उसके प्रति जनता का कितना आकर्षण है। भाषा का प्रयोग देश और काल सापेक्ष हो सकता है। पर हमारे धर्मसंघ में राजस्थानी जितनी व्यवहृत होती है, दूसरी भाषाएं नहीं हैं। मैं स्वयं राजस्थानी में बोलता हूं और लिखता हूं।

दूसरी बात—हमारे संघ की यह विधि रही है कि जिस विषय और विधा में आचार्यों की रचनाएं उपलब्ध हैं, उस विषय और विधा में नई रचना न की जाए। जयाचार्य ने भगवती की जोड़ लिखी। भगवती के १५वें शतक में गोशालक का वर्णन है। आचार्य भिक्षु गोशालक पर व्याख्यान लिख चुके थे। जयाचार्य ने उस पूरे शतक को छोड़ दिया। फिर साधुओं के आग्रह पर १५वें शतक के केवल दोहे लिखे। जोड़ के अन्य भाग की तरह गीतमय रचना नहीं की।

जिज्ञासा—वर्तमान युग में विभिन्न वाद्य-यंत्रों और फिल्म धुनों के आकर्षण से बंधी युवापीढ़ी पाश्चात्य संस्कृति एवं आधुनिक संगीत की दुनिया में डूबती जा रही है। ऐसे समय में 'चौबीसी' अपनी गुणवत्ता एवं प्रभावकता कैसे सुरक्षित रख सकेगी? क्या इसके संगान को वाद्य-यंत्रों से परिपूरित कर जनता के समक्ष नहीं रखा जा सकता है?

समाधान—वाद्ययंत्रों और फिल्म धुनों का आकर्षण युवापीढ़ी को कहां ले जा रहा है, सब जानते हैं। फिल्मी गीतों में आई अश्लीलता सांस्कृतिक अस्मिता के लिए खतरा है। संगीत और रचना की गुणवत्ता से परिचित लोगों के बीच चौबीसी की गुणवत्ता और प्रभावकता को कभी खतरा नहीं हो सकता।

यांत्रिक उपकरणों के प्रयोग का जहां तक प्रश्न है, मेरी समझ में ये

जिज्ञासा : समाधान : १७३

गीत इतने सुन्दर हैं कि इनके लिए अधिक साजबाज की अपेक्षा नहीं है। गले को सहारा देने के लिए साधारण यंत्र का उपयोग एक सीमा तक स्वीकृत हो सकता है।

जिज्ञासा—गणाधिपति ने 'चौबीसी' विशेषांक के लिए 'जैन भारती' मासिक पत्रिका को चुना। महासभा के अधिकारी एवं जैन भारती के सम्पादक सभी हर्षोत्फुल्ल हैं। हम जानना चाहेंगे कि गुरुदेव इस विशेषांक के माध्यम से 'चौबीसी' के कौन-से पक्ष को लोकजीवन में उजागर देखना चाहते हैं?

समाधान—चौबीसी के किसी एक पक्ष विशेष को उजागर करना मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं चाहता हूँ कि इसको समग्रता से पढ़ा जाए और इसके प्रत्येक तत्त्व को गंभीरता से समझा जाए। 'जैन भारती' हमारे धर्मसंघ की पत्रिका है। इसने जैन पत्रिकाओं में गरिमापूर्ण स्थान बनाया है। मैं चाहता हूँ कि यह और अधिक ऊंचाई तक पहुंचे, इसके लिए नए-नए आयाम खोलने आवश्यक हैं।

जिज्ञासा—क्या वर्तमान समस्याओं को समाहित करने के लिए इस लघु ग्रन्थ का स्वाध्याय उपयोगी हो सकता है? ऐसे कौन-से आध्यात्मिक तत्त्व इसमें हैं, जो व्यक्ति को समष्टि के साथ जोड़ सकें और स्वार्थ को परमार्थ में बदलने के सहयोगी बन सकें।

समाधान—चौबीसी के गीतों में ऐसे अनेक तत्त्व हैं, जो वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं को निरस्त कर सकते हैं। उनमें सहिष्णुता, समता, एकाग्रता, समर्पण, भेदविज्ञान, अपाय-चिन्तन, इन्द्रिय विजय, संसार की अनित्यता, प्रमोद भावना आदि तत्त्व उल्लेखनीय हैं। इन गीतों में यत्र-तत्र ध्यान तत्त्व की चर्चा बहुत है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो तनाव, असन्तुलन आदि व्यापक स्तर की समस्याओं का समाधान है।

जिज्ञासा—यह कृति आपके पूर्वज आचार्य की है। क्या इसीलिए आप इसको इतना महत्त्व देते हैं या गुणवत्ता आदि अन्य किसी कारण से? सुना जाता है कि आनन्दघनजी की 'चौबीसी' अध्यात्मरस से ओतप्रोत है। दोनों के संबंध में आपका क्या विचार है?

१७४ : दीये से दीया जले

समाधान—जयाचार्य हमारे पूर्वज आचार्य हैं। चौबीसी उनकी कृति है। इस कारण इसके प्रति मन में आकर्षण है। पर यही एकमात्र कारण नहीं है। जयाचार्य की और भी अनेक कृतियां हैं। प्रत्येक कृति एक-एक से बढ़कर है। फिर भी चौबीसी जितनी लोकप्रियता उन्हें नहीं मिल पाई है। मेरी दृष्टि से इसमें श्रद्धा-भक्ति की प्रधानता और इसके संगान से होने वाली तन्मयता इसकी सबसे बड़ी गुणवत्ता है।

आनन्दधनजी आध्यात्मिक पुरुष थे। उनकी चौबीसी में अध्यात्म की गहराई है, यह बात सही है। पर उतनी गहराई में हर कोई उतर नहीं सकता। उसे समझना ही टेढ़ी खीर है। मैं उसे किसी दृष्टि से कम नहीं मानता। दोनों ग्रन्थों की तुलना हम क्यों करें? दोनों का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। जयाचार्य की चौबीसी में जो सहज सरलता या सादगी है वह किसी भी भावुक व्यक्ति को बहुत जल्दी प्रभावित कर सकती है।

जिज्ञासा—आपने अपने जीवनकाल में ही आचार्यपद का विसर्जन कर एक आदर्श परंपरा का सूत्रपात किया है। अब आप आचार्यपद के दायित्व से मुक्त हैं, आपको कैसा महसूस हो रहा है? आपके नए कार्यक्रम क्या होंगे?

समाधान—मैंने अपने जीवनकाल में आचार्यपद का विसर्जन कर किसी परंपरा का सूत्रपात नहीं किया है। इस संबंध में मैं अनेक बार कह चुका हूँ कि यह मेरा अपना प्रयोग है। इसे परंपरा न बनाया जाए। आचार्य पद का विसर्जन करने के बाद मैं अपने आपको हल्का अनुभव कर रहा हूँ। शासन-नियन्ता होने के कारण धर्मसंघ की प्रत्येक गतिविधि पर मेरी नजर अवश्य रहती है। किन्तु मुझ पर जो दायित्व था, उससे मैं सर्वथा मुक्त हूँ।

मेरे नए कार्यक्रम की नाभिकीय प्रेरणा है अध्यात्म। मैं स्वयं अध्यात्म के गंभीर प्रयोग करना चाहता हूँ और उसे व्यापक बनाने के प्रयास में अपनी शक्ति का नियोजन करना चाहता हूँ। अध्यात्म और विज्ञान एक-दूसरे से अलग रहकर दोनों अपूर्ण हैं। मेरा प्रयत्न रहेगा कि इनमें सामंजस्य स्थापित हो। इस दृष्टि से कहीं से भी कोई कार्यक्रम चलेगा, उसमें मेरा सक्रिय योगदान रहेगा। मानव-सेवा की बात इससे बढ़कर और क्या हो सकती है।

अध्ययन-अध्यापन में मेरी सहज रुचि है। साहित्य सृजन भी मेरी रुचि का विषय है। इस दृष्टि से शैक्षिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों में स्वयं सक्रिय

रहता हुआ मैं साधु-साध्वियों को भी इस दिशा में प्रेरित करता रहूंगा।

जिज्ञासा—जैसा कि आपने आचार्य पद का विसर्जन किया है, क्या 'अणुव्रत अनुशास्ता' पद को लेकर भी आपका कोई चिंतन है?

समाधान—अणुव्रत अनुशास्ता कोई पद नहीं है। न तो किसी ने मुझे यह पद दिया और न मैंने इस संबोधन को पद की दृष्टि से स्वीकार ही किया। यह तो एक विशेषण है। पहले मुझे अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तक कहा जाता था। इन वर्षों में अणुव्रत अनुशास्ता शब्द अधिक प्रचलित हो गया। अनुशास्ता का अर्थ है प्रशिक्षक। अणुव्रत का प्रशिक्षण देना मेरे कार्यक्रमों का एक अंग है। इसलिए इस शब्द-प्रयोग पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है। यदि इसे पद माना जाता है तो मैं इससे मुक्त होने की बात भी सोच सकता हूँ।

जिज्ञासा—आपने अपने युग में संप्रदाय की परिभाषा बदल दी और धर्म को नए परिवेश में प्रस्तुति दी। आपके नए विचारों से प्रभावित होकर नास्तिक कहलाने वाले लोग भी धर्म को मानने लगे। क्या आपके अनुयायी यानी तेरापंथी श्रावक धर्म एवं सम्प्रदाय के बारे में आपके विचारों से सहमत हैं? क्या वे मानव धर्म के अनुयायी होने में गौरव का अनुभव करते हैं?

समाधान—मैं इस बात को तेरापंथी या गैर तेरापंथी के साथ नहीं जोड़ता। कोई व्यक्ति तेरापंथी हो या नहीं, चिंतनशील, प्रबुद्ध और अनाग्रही है तो वह मेरे विचारों से असहमत हो नहीं पाएगा। जहां चिंतन की खिड़कियां बंद हैं, परंपराओं का आग्रह है और धर्म के उपासना पक्ष को ही महत्त्व प्राप्त है, वहां धर्म का असाम्प्रदायिक रूप मान्य नहीं हो पाता। इसलिए जो लोग जन्मजात तेरापंथी हैं, पर धर्म की अवधारणा में अपने विवेक और ज्ञान का उपयोग नहीं करते हैं, उनके बारे में कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती।

इस संदर्भ में मेरा अभिमत यह है कि जन्मना धार्मिक व्यक्ति अनुयायी हो सकता है, पर उसके धार्मिक होने की गारण्टी नहीं है। किसी धार्मिक कुल में पैदा होना किसी के हाथ की बात नहीं है, पर सहज प्राप्त संस्कारों अथवा धार्मिक वातावरण के कारण कर्मणा धार्मिक बनने में सुविधा हो सकती है। मानव धर्म का जहां तक प्रश्न है, मेरी दृष्टि में तेरापंथ धर्म अपने आप में मानव धर्म ही है। पर इसने सम्प्रदाय का रूप ले लिया या इसे दे

दिया गया, कठिनाई की शुरुआत यहीं से होती है। मानव धर्म के अनुयायी होने का गौरव सब लोगों को होता ही है, कहना कठिन है। पर होना अवश्य चाहिए।

जिज्ञासा—आपके आचार्यत्व काल में तेरापंथ धर्मसंघ को मानव धर्म के रूप में व्यापक क्षितिज मिला। क्या इसकी शक्ति भविष्य में भी नैतिक मूल्यों के उत्थान एवं मानव कल्याण के कार्यक्रमों में खपती रहेगी?

समाधान—निस्संदेह, अणुव्रत मिशन के साथ मेरा नाम जुड़ा हुआ है। इसे देशव्यापी बनाने में तेरापंथ समाज ने पूरी शक्ति और श्रम का नियोजन किया है। इन वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय जगत् में भी इसके स्वर मुखर हुए हैं। भविष्य में इस कार्य में समाज की शक्ति नहीं लगने का कोई प्रश्न ही नहीं है। जिस समाज का प्रबुद्ध वर्ग और युवा वर्ग अपने दायित्व के प्रति सचेत रहता है, उसका कोई काम अधर में नहीं झूल सकता। मुझे तो ऐसी प्रतीति होती है कि आने वाले वर्षों में मानव धर्म का क्षितिज और अधिक खुलेंगा और उससे मानव जाति का उपकार होगा।

जिज्ञासा—अणुव्रत आंदोलन का भविष्य क्या होगा? इस मिशन के सुदृढ़ भविष्य के लिए आपने क्या कदम उठाए हैं और कौन-से नए कदम उठाने जा रहे हैं?

समाधान—मुझे नहीं लगता कि अणुव्रत आंदोलन का भविष्य कभी धुंधला होगा। यह एक ऐसा कार्यक्रम है, जिसे कोई नहीं चलाएगा तो भी चलेगा। यदि मनुष्यता को जीवित रहना है तो अणुव्रत जैसे नैतिक अभियान को चलना ही होगा। उसका नाम बदल सकता है, स्वरूप बदल सकता है, पर प्राणतत्त्व नहीं बदल सकता।

अणुव्रत का शाब्दिक अर्थ है छोटे-छोटे व्रत। इसका तात्पर्यार्थ है मानव धर्म, असाम्प्रदायिक धर्म, मानवीय मूल्य अथवा स्वस्थ जीवन की न्यूनतम आचारसंहिता। यदि अणुव्रत जैसा कोई उपक्रम सामने नहीं रहेगा तो पारलौकिक हित या मोक्ष की बात तो दूर, वर्तमान जीवन भी जटिल हो जाएगा।

अणुव्रत के भविष्य को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से एक नई योजना सामने आई है—अणुव्रत परिवार योजना। व्यक्ति तक सीमित अणुव्रत की आस्थाओं

को पूरे परिवार में संप्रेषित करने की यह एक सरल प्रक्रिया है। पारिवारिक संस्कारों की तरह अणुव्रत की आस्थाओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रान्त करने का यह एक सार्थक उपक्रम है। परिवार के सब सदस्य एक साथ बैठकर अणुव्रत के बारे में चर्चा करेंगे और अणुव्रत परिवार की सदस्यता को अपना सौभाग्य समझेंगे तो इस योजना के माध्यम से चुपचाप एक क्रांति घटित हो सकेगी।

धर्मसंघ में विकास की नई दिशाएं खोलने की दृष्टि से एक विकास परिषद् गठित की गई है। उसकी सात इकाइयां हैं। उनमें एक इकाई अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान की है। इसके माध्यम से अणुव्रत की भावी योजनाओं का प्रारूप निर्धारित होगा। अणुव्रत में रुचि रखने वाले कार्यकर्ता उन योजनाओं की क्रियान्विति के लिए जागरूक रहेंगे।

जिज्ञासा—आपने अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात किया। यह एक ही कार्यक्रम इतना व्यापक है कि इसमें शिक्षा, साधना, सेवा एवं शोध की अनेक गतिविधियों को जोड़ा जा सकता था। फिर आपने प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान तथा इन जैसी ही अन्य गतिविधियों को प्रारंभ क्यों किया? इस विकेंद्रित शक्ति को सलक्ष्य अणुव्रत आंदोलन में ही खपाया जाता तो क्या किसी विशिष्ट उपलब्धि की संभावना नहीं होती?

समाधान—अणुव्रत एक व्यापक कार्यक्रम है, इसमें कोई दो मत नहीं है। इसका संबंध मानव मात्र के साथ है। जाति, सम्प्रदाय, देश, रंग और लिंग के घेरे इसे कभी अपनी सीमा में घेर नहीं सके। इसे केंद्र में रखकर कोई भी मानव हितकारी प्रवृत्ति चलाई जा सकती है। इस दृष्टि से इसे ही प्रमुखता मिलनी चाहिए थी, पर समसामयिक अपेक्षाओं के आधार पर अन्य प्रवृत्तियों को भी गौण नहीं किया जा सकता। प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान का जहां तक प्रश्न है, ये दोनों तत्त्व अणुव्रत के ही पृष्ठपोषक हैं। अणुव्रत एक मानवीय आचार-संहिता है। पर आचार-संहिता का उपदेश देने मात्र से वह आत्मसात् नहीं हो पाती।

उसे आत्मसात् करने के लिए प्रयोग जरूरी है। प्रेक्षाध्यान ऐसी प्रायोगिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य को मनुष्यता के सांचे में ढाला जा सकता है। अणुव्रत एक मॉडल है और प्रेक्षाध्यान मनुष्य को उसके अनुरूप

बनाता है।

अणुव्रत की सप्त सूत्री साधना का पहला संकल्प है—में प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करूंगा, आत्मनिरीक्षण करूंगा। इस दृष्टि से अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान एक-दूसरे के पूरक हैं। जीवन में अणुव्रत नहीं है तो प्रेक्षाध्यान की सार्थक निष्पत्ति नहीं आ सकती। इसी प्रकार अणुव्रती व्यक्ति प्रेक्षाध्यान का अभ्यास नहीं करेगा तो संकल्पशक्ति के विकास में बाधा आ सकती है। प्रेक्षाध्यान मानसिक कंसनट्रेशन का उपाय है। मन की चंचलता संकल्पशक्ति को शिथिल बनाती है। इसलिए मैं प्रेक्षाध्यान को अणुव्रती के लिए अत्यंत आवश्यक मानता हूँ।

‘जीवन-विज्ञान’ अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान से भिन्न कोई नया कार्यक्रम नहीं है। यह शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रयोग है। भारतीय शिक्षा पद्धति की एक बड़ी कमी यह है कि उसमें मानवीय मूल्यों, चरित्र या जीवन जीने की कला पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। इस कारण शिक्षा एकांगी हो गई। शिक्षा पूरी करने के बाद कोई व्यक्ति अलग से जीवन मूल्यों या चरित्र का प्रशिक्षण ले सके, यह संभव नहीं लगता। विद्यार्थी प्रारंभ से ही समग्रता के साथ पढ़े। थ्योरिटिकलि और प्रैक्टिकलि जीवन जीने की कला सीखे, यही जीवन-विज्ञान है। मैं इन तीनों को त्रिवेणी के रूप में देखता हूँ। गंगा, यमुना और सरस्वती की तरह अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान की त्रिवेणी में अवगाहन करने वाले लोग अच्छा जीवन जीना सीख लेते हैं।

अहिंसा का प्रशिक्षण हमारा एक कार्यक्रम है। यह भी अणुव्रत की भावना के अनुरूप है। अणुव्रत के प्रथम पांच नियमों का संबंध अहिंसा के साथ है। प्रशिक्षण के अभाव में अहिंसा केवल वाणी का विषय बनकर रह जाती है। इसलिए उसका प्रशिक्षण अहिंसा को व्यावहारिक बनाने का उपक्रम है।

जिज्ञासा—आपने इस वर्ष दिल्ली में लगभग एक वर्ष का प्रवास किया। इस अवधि में अनेक रचनात्मक कार्यों की शुरुआत हुई। लोकतंत्र-शुद्धि एवं शिक्षा पद्धति में परिवर्तन के कार्यक्रमों को लेकर उल्लेखनीय कार्य हुए। अब आपने राजस्थान जाने की घोषणा कर दी। इस समय राजस्थान जाना वर्ष भर में प्रारंभ किए गए कार्यों को अधूरा छोड़ना नहीं है क्या?

जिज्ञासा : समाधान : १७६

इतने समय तक आपने जिन कामों में अपनी शक्ति लगाई, क्या वह व्यर्थ नहीं जाएगी? जब आप आचार्य पद से मुक्त हो ही चुके हैं तो क्या यह उचित नहीं होता कि आप राजधानी में ही रहकर इन कार्यों को सतत गतिमान रख पाते?

समाधान—हमारे इस बार के दिल्ली प्रवास में दो कार्यों पर ध्यान केंद्रित रहा—लोकतंत्र-शुद्धि और शिक्षा में परिवर्तन। दोनों क्षेत्रों में सोदेश्य काम किया गया। उसके परिणाम भी सामने आए। लोकतंत्र-शुद्धि कार्यक्रम को गतिशील बनाए रखने के लिए 'अणुव्रत संसदीय मंच' की स्थापना एक आशा जगाती है। वैसे हमारे पास कोई जादू का डंडा तो है नहीं, जो चुटकी बजाते ही काम पूरा करवा दे। कार्य का प्रारंभ एक बात है, उसे निष्पत्ति तक पहुंचने में समय लगता है।

शिक्षा के क्षेत्र में 'जीवन-विज्ञान' के बारे में जिज्ञासा ही नहीं आस्था जाग रही है। सरकारी स्तर पर और व्यक्तिगत स्तर पर भी शिक्षाधिकारियों ने यह निर्णय लिया है कि अध्यापकों को प्रशिक्षित कर जीवन-विज्ञान पाठ्यक्रम के अनुसार अध्ययन कराया जाएगा। इस दृष्टि से अध्यापकों के अनेक शिविर आयोजित हुए और कार्य आगे बढ़ने की संभावना बढ़ी है।

कार्य को अधूरा छोड़कर जाने की बात ध्यान देने योग्य अवश्य है, पर कोई भी काम कभी पूरा होता है क्या? भारतीय संस्कृति के आदर्श पुरुषों में राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, गांधी आदि न जाने कितने विशिष्ट पुरुष हो गए। अपने-अपने युग में सबने काम किया। क्या उनके बाद उस काम की अपेक्षा नहीं रही? जब तक संसार है, काम करने वाले आते रहेंगे, जाते रहेंगे और काम होता रहेगा। आज तक कोई भी महापुरुष ऐसे नहीं हुए, जिन्होंने करणीय कामों को निःशेष कर दिया हो। फिर हमारी क्या औकात है कि हम प्रारंभ किए गए हर कार्य को पूरा कर ही देंगे। फिर भी हमारा लक्ष्य है कि हम देश की राजधानी में रहें या राजस्थान में रहें, काम करते रहेंगे। इस सन्दर्भ में आचार्य हेमचंद्र की विचार-सरणी हमारा मार्गदर्शन कर रही है। उन्होंने लिखा है—

१८० : दीये से दीया जले

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं,
गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः।
इदं विनिश्चित्य तव स्तवं वदन्,
न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति॥

प्रभो! आपकी स्तवना कर सके, इतना सामर्थ्य योगियों में भी नहीं था। फिर भी आपके प्रति होने वाले गुणानुराग से प्रेरित होकर उन्होंने आपकी स्तुति की। वह गुणानुराग मेरे मन में भी है। यही सोचकर अबोध होने पर भी मैं आपकी स्तवना कर रहा हूँ। ऐसा करके मैं अपराध का भागी नहीं बनूँगा।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हमेचंद्र का अनुकरण करता हुआ मैं यही मानता हूँ कि जब हमारे विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पूर्वज भी अपने शुरू किए हुए काम पूरे नहीं कर सके तो मैं अपने कार्यों की संपूर्ति का मिथ्या अहं क्यों करूँ?

जिज्ञासा—आज देश की जैसी स्थिति है, मूल्य एवं आदर्श टूट रहे हैं, राजनीति दूषित हो रही है, पाश्चात्य मूल्यों का प्रसार संस्कृति को नुकसान पहुंचा रहा है, आर्थिक विसंगतियां पनप रही हैं, ऐसे समय में आप देश को क्या संदेश देना चाहेंगे? क्या उजालों का सिमटना जारी रहेगा?

समाधान—अंधेरे के बाद उजाला और उजाले के बाद अंधेरा, यह प्रकृति का नियम है। कभी-कभी उजाले में अंधेरा हो जाता है। सघन कुहासा और मेघघटाएं उजाले को लील लेती हैं। अंधेरे में उजाले की बात भी अज्ञात नहीं है। विद्युत बल्बों और डेलाइटों का चमत्कार सबके सामने है। इस दृष्टि से विचार करें तो देश की क्या, विश्व की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। आज मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा कम हुई है। आदर्श खूंट्टी पर टंग गए हैं। राजनीति क्या, नीति मात्र दूषित हो गई है। न प्रशासन के पास शुद्ध नीति है, न व्यवसायियों के पास शुद्ध नीति है। और तो क्या, धार्मिकों की नीति पर भी प्रश्नचिह्न लग चुके हैं। देश की संस्कृति अपाहिज बनती जा रही है। इसका सबसे बड़ा कारण है शिक्षा नीति की अस्थिरता। पाश्चात्य पैटर्न पर दी जाने वाली शिक्षा देश की जरूरतों को अनदेखा कर रही है। शिक्षा का उद्देश्य जीवन-स्तर को उन्नत बनाना नहीं, आर्थिक स्टैंडर्ड को ऊंचा करना

है। मनुष्य के सामने मुख्य लक्ष्य दो ही रह गए हैं—अर्थ और सत्ता। इनकी प्राप्ति के लिए हर उपाय को वैध माना जा रहा है। इस परिस्थिति में कहीं कोई त्राण नजर नहीं आ रहा है।

हम जानते हैं कि इस दुनिया में जबर्दस्त उथल-पुथल मचेगी। प्रलय की स्थिति आएगी। पर वह समय बहुत दूर है। आज मनुष्य ने जैसी स्थितियां पैदा की हैं, वह समय नजदीक आता दिखाई दे रहा है। वह समय इतना भयावह होगा, जिसकी कल्पना से ही रोमांच हो जाता है। ऐसी स्थिति में हमारा संदेश यही है कि यदि मनुष्य सुख-शांति से जीना चाहता है तो अपनी जीवनशैली बदले। अणुव्रत पर आधारित जीवनशैली उसे संकट से उबार सकती है। अणुव्रत की शैली मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की शैली है। आज की सबसे बड़ी अपेक्षा भी यही है। 'संयुक्त राष्ट्र संघ' द्वारा अंतर्राष्ट्रीय वर्ष के रूप में 'सहिष्णुता वर्ष' की घोषणा मानवीय मूल्यों को तरजीह देने की घोषणा है।

हमारे अणुव्रत मिशन को व्यापक और प्रभावी बनाने में पाक्षिक पत्र 'अणुव्रत' की भी अच्छी भूमिका रही है। इसके माध्यम से जन-जन तक मानवीय मूल्यों की चर्चा पहुंच रही है। आज सही बात कहने और उसे जन-जन तक पहुंचाने की दृष्टि से भी अकाल-सा दिखाई दे रहा है। मीडिया अपने दायित्व से सही अर्थों में प्रतिबद्ध नहीं है। यदि उसके साथ यह प्रतिबद्धता हो जाए तो हमारा काम काफी आसान हो सकता है। अन्य समाचार पत्र और दूरदर्शन अपने पाठकों एवं दर्शकों को क्या परोसता है, इस विवाद में उलझे बिना अणुव्रत अपनी छोटी सीमाओं में भी बड़ा काम कर रहा है। विश्व के किसी भी हिस्से में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा का कोई भी काम होता हो, उसका प्रकाश जन-जन तक पहुंचता रहे तो सिमटते हुए उजालों को विस्तार दिया जा सकता है।

जिज्ञासा—आज राष्ट्र आर्थिक व्यवस्था के व्यापक उतार-चढ़ाव से जूझ रहा है। आर्थिक विषमता की भीषण स्थितियों को कैसे कम किया जा सकता है?

समाधान—समाज एवं राष्ट्र में आर्थिक विषमताएं कब नहीं थीं? कोई भी समय हो और कोई भी देश, छोटे-बड़े और अमीर-गरीब की असमानताएं

प्रायः सदा रही हैं। इसका कारण है भीतरी आकांक्षाओं का उभार और पदार्थों की कमी। आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए आकांक्षाओं का अल्पीकरण और पदार्थों की पर्याप्त उपलब्धि आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति आकांक्षाओं के संयम का सिद्धान्त स्वीकार करे तो आर्थिक समानता लायी जा सकती है।

जिज्ञासा—कश्मीर, पंजाब और असम को आतंकवाद से मुक्त कराने के लिए अहिंसक समाधान क्या हो सकता है?

समाधान—आतंकवाद का जहां तक सवाल है वह पंजाब, असम, कश्मीर तक या एक प्रदेश तक सीमित नहीं है। पूरे विश्व में यत्र-तत्र वह सिर उठा रहा है। उसके प्रतिरोध में व्यापक अभियान की जरूरत है। एक लक्ष्यबद्ध कार्यक्रम चलाना होगा। इसके लिए बलिदानी मनोवृत्ति वाले उत्साही लोग हों और उनका नेतृत्व महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति के हाथ में हो तो आज भी संभावनाओं का सूरज अस्त नहीं हुआ है। एक ओर निष्ठाशील, निष्काम, तटस्थ और प्रभावशाली व्यक्ति के नेतृत्व में अहिंसक प्रयोग हो, दूसरी ओर आतंकवाद से जुड़े लोगों के हृदय-परिवर्तन का प्रयास हो तो यह प्रयोग एक असाधारण प्रयोग हो सकता है। शर्त एक ही है कि इस कार्यक्रम से जुड़ने वाले सब लोगों की अहिंसा में गहरी आस्था हो और उनका उचित प्रशिक्षण हो।

जिज्ञासा—हिंसा के प्रतिकार के लिए वैचारिक और भावनात्मक साधन के अलावा क्या किसी अन्य क्रियात्मक साधन का उपयोग किया जा सकता है? आपके पास अहिंसक सैनिकों की बड़ी सेना है, क्या इसका उपयोग इस दिशा में नहीं किया जा सकता ?

समाधान—हिंसा का कोई निश्चित चेहरा नहीं है। वह अनेक रूपों में राष्ट्र के लिए चुनौती बन रही है। हमने व्यक्तिशः अनेक लोगों को समझाने और उनका हृदय-परिवर्तन करने के प्रयोग किये हैं। अनेक डाकुओं ने अपनी जीवन की दिशा बदली है। जेल के सीखचों में बन्द अपराधियों का मन बदला है। हजारों लोग व्यसन-मुक्त हुए हैं। इस काम के लिए हमने स्वयं कष्ट सहकर भी अनवरत पदयात्राओं का प्रयोग किया है। आज के अत्यधिक सुविधावादी युग में ऐसा किया जा रहा है। इससे आगे कोई प्रयोग

नहीं हो सकते, यह बात नहीं है।

आतंकवाद की समस्या कोई छोटी समस्या नहीं है। इस समस्या का मूलभूत उद्देश्य जब तक पकड़ में नहीं आता है, तब तक समाधान की गहराई में उतरने की बात नहीं बन सकती। पंजाब समस्या का मूल ध्यान में आया तो सन्त लोंगोवाल से समझौता हुआ। उलझी हुई गुत्थियों के बीच एक रास्ता बना। यदि लोंगोवाल रहते तो वह रास्ता और अधिक प्रशस्त हो सकता था। पर उनकी हत्या ने एक नयी समस्या खड़ी कर दी।

हर एक समस्या का समाधान ही जाएगा, ऐसी गर्वोक्ति कोई नहीं कर सकता। प्रयास करना हमारा काम है। पंजाब जैसे अशान्त प्रदेश में आज भी हमारे साधु-साध्वियों के अनेक वर्ग विहार कर रहे हैं, वहां के लोगों में अहिंसा एवं शांति का प्रचार कर रहे हैं, प्रेक्षाध्यान के द्वारा हृदय-परिवर्तन की दिशा में भी प्रयोग चल रहे हैं।

जिज्ञासा—आपने प्रेक्षाध्यान द्वारा हृदय-परिवर्तन की बात कही। आतंकवाद जैसी जटिल समस्या का हल क्या हृदय परिवर्तन हो पाएगा?

समाधान—किसी भी समस्या को अन्तहीन या असाध्य मानकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना अच्छी बात नहीं है। जहां तक आतंकवादियों के हृदय-परिवर्तन का प्रश्न है, यह एक उपाय है। हृदय-परिवर्तन का प्रयोग भी तभी सफल हो पाता है, जब सामने वाला व्यक्ति स्वयं बदलना चाहे। बदलाव में व्यक्ति आस्था हो और प्रयोग करने वाले की संकल्पशक्ति भी दृढ़ हो तो सफलता असंदिग्ध है। पर दोनों में से एक पक्ष भी दुर्बल हो जाए तो सफलता दूर खिसक जाती है। हृदय-परिवर्तन की बात करने वालों के पास कोई ऐसा जादू नहीं होता, जो हाथोंहाथ व्यक्ति को बदल दे।

जिज्ञासा—वर्तमान परिस्थितियों में आपको भारत का भविष्य कैसा लगता है? लोगों की लोकतंत्र से आस्था डिगने लगी है। वैकल्पिक समाधान क्या हो सकता है?

समाधान—मैं न तो भविष्यवक्ता हूं और न बनना चाहता हूं। किन्तु वस्तुस्थिति का व्याख्याता बनने में कोई कठिनाई नहीं है। लोगों की लोकतंत्र से आस्था उठ गई है। इस वाक्य को मैं एकांगी मानता हूं। जो चल रहा है, वह सही लोकतंत्र है क्या? यदि नहीं तो उस पर आस्था टिकेगी कैसे? व्यक्ति

जिस विचारधारा या सिद्धान्त में आस्था रखकर चलता है, वह सही न हो तो आस्था कब तक टिकेगी। लोकतंत्र के प्रति अनास्था का स्वर उठा है, इसमें गलती लोगों की नहीं, लोकतंत्र को चलाने वालों की है। मेरे अभिमत से लोकतंत्र का विकल्प लोकतंत्र ही है, यदि वह सही और सक्षम है।

जिज्ञासा—आज राष्ट्र जिन विषम परिस्थितियों का सामना कर रहा है, उनमें अणुव्रत की क्या भूमिका हो सकती है?

समाधान—नैतिकता, चरित्र और अध्यात्म को भुला देने से राष्ट्र को विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। राष्ट्र की जनता नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थाशील रहे तो उलझनें बढ़ नहीं सकतीं। अणुव्रत जन-जन के हृदय में निष्ठा का दीप जलाना चाहता है। किसी समस्या का तात्कालिक समाधान खोजने में वह निश्वास नहीं करता। उसका विश्वास मूल को पकड़ने में है। वह देश में एक मात्र ऐसा आन्दोलन है, जो व्यापक रूप से मानवीय मूल्यों पर बल देता है और उनके प्रति निष्ठा पैदा करता है।

जिज्ञासा—धर्म का राजनीतिकरण करके राजनीतिज्ञ सत्ता प्राप्ति के लिए आम जनता की धर्मभावना का जिस तरह उपयोग कर रहे हैं, उससे जनता को कैसे बचाया जाए?

समाधान—इस प्रसंग में केवल राजनेता ही नहीं, धर्मनेता भी दोषी हैं। वे धर्म का राजनीतिकरण होने क्यों देते हैं? राजनेताओं के अपने स्वार्थ हो सकते हैं। धर्मनेता तो स्वार्थी मनोवृत्ति से ऊपर उठें। वे इस प्रवाह में क्यों बहें? धर्मनेताओं का यह दायित्व है कि वे राजनेताओं को धर्म पर हावी न होने दें। वे राजनीति का एक सीमा तक उपयोग भले ही करें, किन्तु राजनीतिमय क्यों बनें? आश्चर्य तो तब होता है जब धर्मनेता भी राजनीति खेलने लगते हैं। राजनीति पर धर्म का अंकुश रहे, यह बात समझ में आने जैसी है। पर धर्म राजनीति के इशारे पर चले, यह विडंबना है।

जिज्ञासा—किसी समय सोने की चिड़िया कहलाने वाला हमारा देश आजादी मिलने के चार दशक बाद भी बदहाली भोग रहा है, दुनिया के कंगाल देशों में गिना जाता है। क्या बचाव का कोई रास्ता नहीं है?

समाधान—किसी समय भारत समृद्ध था, इसका अर्थ यह तो नहीं कि

यहां की मुर्गियां सोने के अंडे देती थीं। मेरी अपनी धारणा यह है कि उस समय देश की जनता सीधा-सादा जीवन जीती थी। मोटा खाना, मोटा पहनना, श्रम, संयम और सादगी का जीवन, कृत्रिम आवश्यकताओं की कमी, चरित्र के प्रति निष्ठा, भाईचारे की भावना और मन का संतोष—ये सब ऐसी वृत्तियां हैं, जो व्यक्ति या राष्ट्र को समृद्धि के शिखर तक ले जा सकती हैं।

दूसरी बात, समृद्धि या असमृद्धि कोई स्थाई स्थितियां नहीं हैं। इनमें बदलाव आता रहता है। जनसंख्या की वृद्धि, संस्कृति की विस्मृति विलासिता, सुविधाभोगी मनोवृत्ति, ईमानदारी का अभाव, कृत्रिम आवश्यकताओं का विस्तार आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो समृद्धि के प्रत्यक्ष शत्रु हैं। नेतृत्व, रक्षा प्रणाली, व्यापारिक स्थितियां और टेक्नोलॉजी आदि का भी इसमें हाथ रहता है।

हम तो इस संबंध में इतना ही कह सकते हैं कि साइन्स और टेक्नोलॉजी के साथ-साथ नीति, चरित्र, संयम और प्रामाणिकता के संस्कार पुष्ट होते रहें तो बदहाली भोगने की नौबत नहीं आएगी।

जिज्ञासा—हमारे यहां जो भीषण आर्थिक विषमता है, उसे कैसे कम किया जाए?

समाधान—समाज में आर्थिक विषमताएं कब कहां नहीं थीं? कोई भी समय हो और कोई भी देश, छोटे-बड़े, अमीर-गरीब आदि वर्गों का अस्तित्व प्रायः सदा रहा है। इसका कारण है भीतरी आकांक्षाओं का उभार और पदार्थों की कमी। आकांक्षाएं कम हों और पदार्थ पर्याप्त हों तो व्यवस्था में समता का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु सामाजिक परिवेश में यह बहुत कठिन है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति आकांक्षाओं के संयम का सिद्धांत स्वीकार करे तो एक सीमा तक विषमताओं को कम किया जा सकता है।

जिज्ञासा—वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था की कमजोरियों एवं नई पीढ़ी की भूमिका के बारे में आपका क्या मत है?

समाधान—प्रचलित शिक्षा-पद्धति को गलत मानकर उसके परिवर्तन या सुधार पर अब तक बल दिया जाता रहा है। पर हमारे अभिमत में शिक्षा-पद्धति गलत नहीं, बल्कि अधूरी है। जब तक संयम, अहिंसा, सहिष्णुता और भावनात्मक विकास की बात शिक्षा के साथ नहीं जुड़ेगी, तब तक बौद्धिकता

बढ़ती रहेगी, पर मानवीय मूल्यों का विकास नहीं होगा।

नई पीढ़ी बौद्धिक बने, यह युग की अपेक्षा है। पर वह संस्कारी बने, यह सबसे पहली अपेक्षा है। इसके लिए अध्यापकों और अभिभावकों को भी जागरूक रहना होगा। इस पीढ़ी को संतुलित विकास का अवसर देने के लिए 'जीवन-विज्ञान' का पाठ्यक्रम तैयार किया गया है। इसमें सैद्धांतिक और प्रायोगिक दोनों दृष्टियों से विद्यार्थी को मानवीय मूल्यों का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था है। इस पाठ्यक्रम से निकलने वाले विद्यार्थी शिक्षा के क्षेत्र में उदाहरण बन सकते हैं।

जिज्ञासा—स्त्रियों को पिछड़ेपन के अंधकार से निकालने का क्या रास्ता है ?

समाधान—इसके लिए स्वयं स्त्रियों को आगे आना होगा। पुरुष भला क्यों चाहेगा कि स्त्रियां आगे आएँ? स्त्रियां स्वयं सोचें, समझें, योजना बनाएं और पुरुषार्थ करें। जहां स्त्रियां जागी हैं, उन्हें कोई भी शक्ति रोक नहीं पाई है। हमारे समाज में साध्वियों का, स्त्रियों का जागरण एक मिसाल के रूप में है। पर यह भी तभी संभव हुआ है, जब उन्होंने स्वयं अंगड़ाई ली। उनका कर्तृत्व और हमारा प्रोत्साहन—दोनों के योग से एक अच्छा क्रम बन गया।

स्त्रियां उन्नति करें, यह अभीष्ट है। पर वे पिछड़ेपन के अंधकूप से निकलकर फैशनपरस्ती की खाई में न गिर पड़ें, इसके लिए भी उन्हें सतत जागरूक रहना होगा। अन्यथा उनका जागरण खतरों से खाली नहीं रह जाएगा।

जिज्ञासा—आदमी आज इतना क्रूर और हिंसक क्यों हो गया है? क्या उसके स्वभाव को बदला नहीं जा सकता?

समाधान—बदलाव की संभावना न हो तो उपदेश, प्रशिक्षण और प्रयोग का कोई अर्थ ही नहीं रहे। आदमी को बदला जा सकता है, इसी विश्वास के आधार पर तो चारों ओर प्रयत्न हो रहे हैं। इन प्रयत्नों का कोई प्रभाव नहीं है, यह बात भी नहीं है।

रही क्रूरता और हिंसा की बात। लोगों को लगता है कि ये वर्तमान युग की देन है। अतीत पर नजर डालें और देखें कि किस युग का

आदमी क्रूर नहीं था ? हिंसक नहीं था? मात्रा में कमी-बेसी होती रहती है। अहिंसा की तरह हिंसा और क्रूरता भी एक सचाई है, शाश्वत सचाई है। जब इस वृत्ति को उत्तेजना अधिक मिलती है, वह उभर जाती है, नये-नये रूप धारण कर लेती है। आज पूरा वातावरण ही ऐसा हो रहा है। समाचार पत्र, रेडियो, टी. वी. आदि संचार-साधन दिन-रात इसी के समाचार देते हैं।

एक वर्ष के लिए ही सही, ऐसे समाचारों पर पूरी तरह से प्रतिबंध लगाकर देखा जाए कि उसका क्या परिणाम आता है। जब तक मनुष्य का केवल बौद्धिक विकास होता रहेगा और उसे संयम, सहिष्णुता आदि मूल्यों को जीने का रास्ता नहीं मिलेगा, समस्या का समाधान नहीं हो पाएगा।

जिज्ञासा—कहा जा रहा है कि न्याय न मिलने पर जगह-जगह लोग बन्दूक की भाषा में बात करने लगे हैं। लोगों को समय पर न्याय दिलवाने की क्या व्यवस्था हो?

समाधान—न्याय न मिलना समस्या का एक पक्ष हो सकता है। पर देखना यह है कि न्याय का अर्थ क्या है? इतने बड़े देश में सबकी मनोकामनाएं पूर्ण हो जाएं, यह संभव नहीं लगता। फिर किसे कितना न्याय मिला, इसका निर्णय कौन करेगा?

एक आदमी ने खुदा से न्याय की मांग की। मूसा आया और बोला—‘न्याय नहीं, खुदा की बंदगी मांगो।’ वह नहीं माना और कहता रहा—‘मुझे तो न्याय चाहिए।’ इस पर मूसा बोला—‘देखो, तुम शिला के ऊपर बैठे हो और शिला तुम्हारे नीचे है। न्याय चाहते हो तो तुम नीचे हो जाओ और शिला तुम्हारे ऊपर आ जाएगी।’ यह बात सुन वह घबरा गया और उसने मूसा की मिन्नत करते हुए कहा—‘मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं जहां हूं वहीं रहने दूं।’

न्याय के लिए न्यायालय के द्वार पर दस्तक दी जा सकती है। पर बंदूक की भाषा बोलने वाले क्या स्वयं अन्याय के पथ पर नहीं बढ़ते हैं? न्याय की मांग से पहले उसके सभी पहलुओं पर चिंतन अपेक्षित है।

१८८ : दीये से दीया जले

जिज्ञासा—पूर्ण जीवन किस तरह जिया जाता है?

समाधान—शायद आप यह सवाल सामाजिक व्यक्ति के बारे में पूछ रहे हैं। समाज में रहने वाला व्यक्ति अगर अणुव्रती जीवन जीए तो वह अपने आप में पूर्ण जीवन हो सकता है। अणुव्रती जीवन दो अतियों के बीच का जीवन है। एक ओर अध्यात्म की पराकाष्ठा—संपूर्ण अहिंसा और संपूर्ण अपरिग्रह का जीवन। दूसरी ओर भोगवाद की पराकाष्ठा—बिना प्रयोजन हिंसा और आवश्यकता से अधिक संग्रह। प्रथम कोटि का जीवन निश्चय ही सब लोग जी नहीं सकते। दूसरी कोटि का जीवन किसी के लिए भी काम्य नहीं हो सकता। अणुव्रती न तो पूर्ण रूप से अहिंसक होता है और न क्रूर हत्यारा। सद्गृहस्थ का जैसा जीवन होना चाहिए, वैसे आदर्श जीवन का मॉडल होता है अणुव्रती जीवन। ऐसा जीवन जीया जा सकता है और यह सबके लिए अच्छा है।

जिज्ञासा—राष्ट्रीय एकता परिषद में आपको मनोनीत किया गया है। राष्ट्रीय एकता आपकी राय में कैसे सधेगी?

समाधान—राष्ट्रीय एकता सापेक्ष शब्द है। अनेक राज्यों, शहरों, गांवों में बंटा हुआ राष्ट्र किसी अपेक्षा से ही एक हो सकता है। जब राष्ट्र में भेद हैं और उनकी उपयोगिता है तो निरपेक्ष एकता न तो सध सकती है और न वह उपयोगी होगी। सापेक्ष एकता का पहला बिंदु है देश के नागरिकों की कर्त्तव्यनिष्ठा। वे अपने विचारों, कार्यों और व्यवहारों से किसी का अहित न करें। किसी का हित हो सके या नहीं, कम-से-कम अहितकारी प्रवृत्तियों को हतोत्साह कर दिया जाए, यह भी एक बड़ा काम है।

राष्ट्रीय एकता के विघटन का बीज देश के विभाजन के साथ ही बो दिया गया था। विगत कुछ दशकों से वह अधिक जोर पकड़ रहा है। सत्ता लिप्सा, स्वार्थी मनोभाव, अप्रामाणिकता, एकांगी चिंतन आदि कुछ ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जो राष्ट्रीय एकता के प्रासाद की बुनियाद को हिलाने वाली हैं। सांप्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद, अलगाववाद आदि की मानसिकता भी एकता में बाधक है।

जो लोग एकता में रस लेते हैं, उनका दायित्व है कि वे विघटनकारी प्रवृत्तियों से स्वयं बचें तथा औरों को बचाएं। अन्यथा उनकी आकांक्षा मात्र

जिज्ञासा : समाधान : १८६

शाब्दिक बनकर रह जाएगी। आश्चर्य तो इस बात का है कि राष्ट्रीय एकता के प्रश्न पर भी पार्टी पॉलिटिक्स सामने आ रही है। पर यह प्रश्न न तो राजनीति का है और न धर्मनीति का है। सभी नीतियों के लोग एक साथ बैठें, व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर चिंतन करें और उसकी क्रियान्विति में विलंब न करें तो ही कोई परिणाम आ सकता है।

जिज्ञासा—पंजाब, कश्मीर और असम के मुद्दों पर राष्ट्रीय एकता परिषद की कोई बैठक नहीं हुई, पर राम मन्दिर और बाबरी मस्जिद विवाद पर उसकी बैठक आयोजित की गई। क्या वही देश की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है?

समाधान—समस्याएं सभी महत्वपूर्ण होती हैं। पर कोई तात्कालिक समस्या उभरकर सामने आ जाए तो उस पर तत्काल चिंतन करना अनिवार्य हो जाता है। अन्यथा उसकी जड़ें और गहरी हो जाती हैं। समय पर चिंतन हुआ, बढ़ता विप्लव विराम पा गया। किसी एक समस्या के बारे में सोचा जाता है, इसका अर्थ यह नहीं होता कि वही सबसे महत्वपूर्ण है। प्रत्येक समस्या चिंतन मांगती है। द्रव्य, क्षेत्र, समय और परिस्थिति के अनुरूप उस पर चिंतन होना ही चाहिए।

जिज्ञासा—आने वाला कल हमारे देश के लिए और पृथ्वी के लिए कैसा होगा?

समाधान—हम भविष्यवक्ता नहीं हैं। भविष्यवाणियों में हमारा विश्वास भी नहीं है। फिर भी हम इतना कह सकते हैं कि 'नीति के पीछे बरकत होती है' यह कहावत असत्य नहीं है। मनुष्य का लक्ष्य सही हो, लक्ष्य प्राप्ति के साधन सही हों, उन साधनों के प्रति गहरी निष्ठा हो और हो प्रगाढ़ पुरुषार्थ। भारत हो या विश्व का कोई भी अन्य देश, यदि उसमें इस चतुष्टयी की सम्यक् आराधना हो तो भविष्य के लिए उसे चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। यदि उसकी सम्यक् आराधना नहीं होती है तो चिंतित होने मात्र से कोई निष्पत्ति आने वाली नहीं है।

□□

१६० : दीये से दीया जले

लेखक की प्रमुख कृतियां

जन्म :	२० अक्टूबर १९१४ लाडनू (राजस्थान) वि. सं. १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया
दीक्षा :	५ दिसम्बर १९२५ लाडनू (राजस्थान) वि. सं. १९८२ पोष कृष्णा पंचमी
आचार्य :	२७ अगस्त १९३६ गंगापुर (राजस्थान) वि. सं. १९९३ भाद्रपद शुक्ला नवमी
अणुव्रत-प्रवर्तन :	२ मार्च १९४९ सरदारशहर (राजस्थान) वि. सं. २००५ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया
युगप्रधान :	४ फरवरी १९७१ बीदासर (राजस्थान) वि. सं. २०२६ माघ शुक्ला सप्तमी
भारत ज्योति :	१४ फरवरी १९८६ उदयपुर (राजस्थान) वि. सं. २०४२ माघ शुक्ला पंचमी
वाक्पति :	१४ जून १९९३ लाडनू (राजस्थान) वि. सं. २०५० आषाढ कृष्णा दसमी
इंदिरा गांधी :	३१ अक्टूबर १९९३ नई दिल्ली
राष्ट्रीय एकता पुरस्कार :	वि. सं. २०५० कार्तिक कृष्णा एकम
गणाधिपति :	१८ फरवरी १९९४ सुजानगढ (राजस्थान) वि. सं. २०५० माघ शुक्ला सप्तमी

प्रमुख कृतियां

● कालूयशोविलास	: मुखड़ा क्या देखें दर्पण में
● डालिम चरित्र	: जब जागे तभी सबेरा
● माणक महिमा	: लघुता से प्रभुता मिले
● मगन चरित्र	: मनहंसा मोती चुगे
● सेवाभावी	: दीया जले अगम का
● मां वदना	: बैसाखियां विश्वास की
● चन्दन की चुटकी भली	: कुहासे में उगता सूरज
● नन्दन निकुंज	: जो सुख में सुमिरण करै
● सोमरस	: सफर आधी शताब्दी का
● भरत मुक्ति	: जीवन की सार्थक दिशाएं
● पानी में मीन पियासी	: समता की आंख: चरित्र की पांख
● जैन सिद्धान्त दीपिका	: अनैतिकता की धूप
● दोनों हाथ एक साथ	: अणुव्रत की छतरी
● भिक्षु न्याय कर्णिका	: अणुव्रत के आलोक में
● मनोनुशासनम्	: राजपथ की खोज
	: अणुव्रत : गति प्रगात
	बून्द भी लहर भी

દીલે સે દીલા જલે

ગુરુદેવ તુલસી